

विवाह वृन्दावनम् of केशव देवस
with the commentary दीपिका of
गणेशदेवस. - Edited by the
Panditas of वेङ्कटेश्वरपुरेस.
मुम्बई, 1966 Vikram era.



Gandhi National
Centre for the Arts

1335

25

2008-0243

89

Bill No. 3/07-08

ARAI

THE AUTOMOTIVE RESEARCH ASSOCIATION OF INDIA

(With Ministry of Commerce and Industry, Govt. of India)

Survey No. 102, Vetal Hill, Off Paud Road,
Kothrud, PUNE 411 038

ARAI is an ISO 9001 and NABL certified Research Institute,
dedicated to the industry in the fields of Applied



SURYA ROSHNI LIMITED

The Company invites application for the
following senior positions for their Steel Pipes
& Cold Rolling Unit at Bahadurgarh in Haryana
near Delhi.

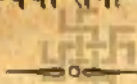
1. VICE PRESIDENT (Works)

॥ श्रीः ॥

विवाहवृन्दावनम् ।

औदीच्यवंशवितंसपण्डितवरश्रीकेशवार्क-
दैवज्ञविरचितम् ।

सकलागमाचार्यवर्यकेशवसांवत्सरात्मजश्रीगणेश-
दैवज्ञविरचितया विवाहदीपिकाख्यया
व्याख्यया समन्वितम् ।



तदिदम्

क्षेमराज—श्रीकृष्णदासश्रेष्ठिनां

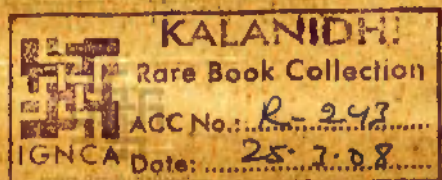
मुम्बय्यां

स्वकीये “श्रीवेङ्कटेश्वर” (स्टोम्) मुद्रणालये
मुद्रयित्वा प्रकाशितम् ।



संवत् १९६६, शके १८३१.

अस्य सर्वेऽधिकारा राजनियमतः प्रकाशकाधीनाः सन्ति ।



133-5004
BAY

DATA ENTERED

प्रस्तावना ।

Date 27/06/08

सुविदितमेव निखिलमहीमण्डलमण्डनानामनवरतसद्धर्मानु-
ष्ठानप्रसक्तमानसमहाशयानाम्, यत् किल “भार्या त्रिवर्गकरणं
शुभशीलयुक्ता शीलं शुभं भवति लग्नवशेन तस्याः” इत्यादिमह-
दुक्तेर्धर्मार्थिकामानां मुख्यं साधकत्वं सच्चरित्रभार्याया एव, सच्चा-
रिद्र्यं च तस्या वैवाहिकसमयशुद्धयेवेति । समयशुद्धिश्च यय-
प्यनेकग्रन्थेषु तत्तदाचार्यैः प्रत्यपाद्येव तथापि नानाविधमुहूर्त्तादि-
प्रतिपाद्यविषयसमासक्तमानसानां तेषां न तथा विस्तरतया विशद-
तया सहेतुकतयाऽनेकाचार्यमतग्रहणपुरस्सरतया च तत्प्रतिपाद-
नमिति मनसि निर्धार्य पण्डितवरश्रीकेशवार्कदैवज्ञेन वैवाहिक-
निखिलविचार्यविचारात्मकं विवाहवृन्दावनमिमं ग्रन्थं
लोकोपकाराय निरमायि । एतद्व लोकने च विवाहविषयक-
विचाराय ग्रन्थान्तरापेक्षा नैवेति सुनिश्चय एव । ग्रन्थकारानुरूप-
तदात्मजेन श्रीगणेशदैवज्ञेन च ग्रन्थानुरूपैव विवाहदीपिका-
नाम्नी टीका सकलजनसुबोधाय निर्मिता । तदेव सटीकमेतद्
विवाहवृन्दावनं मया स्वकीये “श्रीवेङ्कटेश्वर” (स्टीम) मुद्रणालये

सुपुष्टमसृणपत्रेषु शोभनाक्षरैः संमुद्य प्रकाश्यते । तदेतद्ब्रह्मण-
पठनपाठनादिभिः कृतार्थयन्तु मामनुग्राहका ग्राहकाः सुधिय
इति भृशमर्थयते ।



Jawahar Gandhi National
Centre for the Arts

विद्वज्जनरूपाकाङ्क्षी—

क्षेमराज-श्रीकृष्णदास,

“श्रीविक्रमेश्वर” (स्टीम) यन्त्रालयाध्यक्षो-मुम्बई-स्थः ।

॥ श्रीः ॥

अथ विवाहवृन्दावनविषयानुक्रमणिका ।



विषयाः

श्लोकाङ्काः पृष्ठाङ्काः

नक्षत्रशुद्धिर्नामाऽध्यायः १.

श्रीलक्ष्मीनारायणयोर्विवाहात्मकं

| | | | |
|--|-----|-----|-------|
| मङ्गलाचरणम् | ... | ... | १-६ |
| अस्य ग्रन्थस्य आर्षमूलत्वेन प्रामाण्यम् | ... | ... | २-७ |
| विवाहवृन्दावननाम्नोऽन्वर्थता | ... | ... | २-८ |
| ज्योतिःशास्त्रप्रयोजनकथनम् | ... | ... | २-१० |
| एकादशनक्षत्राणामदूषको गणः | ... | ... | ३-१२ |
| दैवपुरुषकारयोर्वैलाबलत्वम् | ... | ... | ३-१३ |
| शुभकालबलस्य श्रेष्ठता | ... | ... | ३-१९ |
| विवाहे पूर्वाफाल्गुनीपुष्ययोर्निषेधे हेतुः | ... | ... | ४-१९ |
| विवाहमासनिर्णयः | ... | ... | ५-२० |
| नक्षत्रवेधदोषे पञ्चशलाकाचक्रकथनम् | ... | ... | ६-२२ |
| वेधे फलदौष्ट्यम् | ... | ... | ७-२३ |
| विवाहादन्यत्र सप्तशलाकाचक्रकथनम् | ... | ... | ८-२३ |
| प्रादवेधतदोषकथनं च | ... | ... | ९-२४ |
| भक्तपादिदोषांतरकथनम् | ... | ... | १०-२५ |

विषयाः

श्लोकांकाः पृष्ठांकाः

| | | | |
|--|-------------|-------------|-------|
| लत्तादोषः | ... | ... | ११-२६ |
| पृष्ठाग्रलत्तयोरल्पाधिकदोषौ | ... | ... | १२-२७ |
| लत्ताफलकथनम् | ... | ... | १३-२८ |
| एकार्गलं स्वार्जूरिकं चक्रम् | ... | ... | १४-२८ |
| शेषिणीलक्षणम् | ... | ... | १५-२९ |
| एकार्गलाविषये परेषां मतम् | ... | ... | १६-३० |
| क्रूरषड्भान्तरितनक्षत्रे विशेषोक्तिः | ... | ... | १७-३१ |
| पादवेधे दोषकथनं दृष्टान्तश्च | ... | १८-१९-३१-३२ | |
| अथ चण्डायुधदोषो ग्रहणदुष्टकालश्च | २०-२१-३२-३३ | | |
| ग्रहणनक्षत्रदोषकालः | ... | ... | २२-३३ |
| उत्पातदोषेऽपि नक्षत्रशुद्धिप्रकारः पातदोषश्च | ... | ... | २३-३४ |
| पातदोषसम्भवकालः | ... | ... | २४-३५ |
| नक्षत्रशुद्धेः प्राशस्त्यम् | ... | ... | २५-३६ |

कालमीमांसाऽध्यायः २.

| | | | |
|-------------------------------------|-----|-----|------|
| राशिघटितमीमांसानिरूपणम् | ... | ... | १-३७ |
| चन्द्रराशयोर्मेलके हेतुः | ... | ... | २-३८ |
| राशिवशादेवायनप्रमाणम् | ... | ... | ३-३९ |
| दिनर्शालाभे युक्त्यंतरकथनम् | ... | ... | ४-४० |
| स्थूलफले एव मुनीनामनुसरणे हेतुः | ... | ... | ५-४० |
| स्थूलानुसारेणैव सूक्ष्मताया ग्रहणम् | ... | ... | ६-४१ |

विषयाः

श्लोकाङ्काः पृष्ठाङ्काः

| | | | |
|-----------------------------|-----|-----|------|
| कालसूक्ष्मताया अनवस्थानम् | ... | ... | ७-४२ |
| सूक्ष्मकालाकलनाशक्ये हेतुः | ... | ... | ८-४३ |
| स्थूलसूक्ष्मकालयोः समाधानम् | ... | ... | ९-४३ |

मेलकाऽध्यायः ३.

| | | | |
|--|-----|-----|-------------|
| आदौ सोपपत्तिकं राशिमेलककथनम् | ... | ... | १-४५ |
| अस्यापवादस्तारामैत्रञ्च | ... | ... | २-४६ |
| वधूवरयो राशिनक्षत्रैक्ये विशेषः | ... | ... | ३-४७ |
| नाडीदोषे मतान्तरकथनम् | ... | ... | ४-४८ |
| नाडीदोषाभावे दृष्टान्तश्चरणैकत्वे दोषश्च | ... | ... | ५-४९ |
| अथ नाडीवेधः | ... | ... | ६-४९ |
| तस्य मतान्तरेण दूषणम् | ... | ... | ७-५० |
| अथ योनिमैत्रकथनम् | ... | ... | ८-५१ |
| गणमैत्रीकथनम् | ... | ... | ९-५२ |
| स्वाभाविके राशिचैरं तथा वश्यमैत्रं च | ... | ... | १०-५३ |
| राशिमैत्रीकथनम् | ... | ... | ११-५४ |
| तस्यापवादः प्रत्युत्तरं च | ... | ... | १२-१३-५५-५५ |
| सिद्धान्तरूपा गतिः | ... | ... | १४-५६ |
| स्वाभाविकग्रहमैत्रस्यापि न्यूनाधिकता | ... | ... | १५-५७ |
| ग्रहाणां ब्राह्मणादिवर्णाः | ... | ... | १६-५८ |
| जातकोक्तं ग्रहमैत्रम् | ... | ... | १७-५९ |
| ग्रहमैत्रविचारः | ... | ... | १८-२१-५९-६१ |

विषयाः

श्लोकांकाः पृष्ठांकाः

| | |
|---|------------|
| राशिसंख्ये नवांशकथने हेतुः ... | २२-६३ |
| नवांशसंख्यं न मन्यन्ते तेषामनिष्टम् ... | ... २३-६४ |

नवांशचिन्ताध्यायः ४.

| | |
|--|-----------|
| करग्रहे नवांशविषये यवनाचार्यमतम् ... | ... १-६५ |
| यवनोदितमैत्रीग्रहणे हेतुर्दोषश्च ... | २-६७-३-६८ |
| तत्रोत्तरप्रत्युत्तराणि ... | ४-६८-५-६९ |
| परिशेषात्फलितः सिद्धान्तः ... | ... ६-७० |
| सप्तमस्तके यवनसत्यशास्त्रयोर्मेलनम् ... | ... ७-७१ |
| राशिनवांशानां शुभाशुभविचारः ... | ... ८-७१ |
| अथ उदयास्तशुद्धिः ... | ... ८-७४ |
| लवलग्नयोर्योगपदकथनम् ... | ... १०-७५ |
| उक्तस्यार्थस्य युक्त्या दृढीकरणम् ... | ... ११-७६ |
| अंशपतिविलोकनेन दृष्टानिष्टफलम् ... | ... १२-७६ |
| उभयतो दृष्टिविषये दृष्टान्तः ... | ... १३-७७ |
| अत्रैव परमतकथनम् ... | ... १४-७८ |
| अथ जन्मराशिलग्न्याभ्यामंशशुद्धिः ... | ... १५-७८ |
| अष्टमलग्नदोषस्तदपवादश्च ... | ... १६-७९ |
| चरत्रयसंनिपातदोषकथनम् ... | ... १७-८० |
| चतुर्थद्वादशलग्नदोषस्तदपवादश्च ... | ... १८-८१ |
| जन्मग्रहवशेन सापवादं नवांशदोषान्तरम् ... | ... १९-८२ |
| जन्मकालिकग्रहवशेन दोषान्तरम् ... | ... २०-८३ |

लग्नबलाऽध्यायः ५.

| | | |
|--|----------------|-------|
| आदौ लग्नाद्रवेः शुभाशुभस्थानानि | ... | १-८४ |
| लग्नाच्छशिनः शुभाशुभस्थानानि | ... | २-८५ |
| भौमस्य शुभाशुभस्थानानि | ... | ३-८६ |
| बुधगुरुशुक्राणां शुभाशुभस्थानानि | ४-८६-५-८७-६-८७ | |
| कर्तरीजामित्रयोः फलकथनम् | ... | ७-८८ |
| गुरुशुक्रयोर्बाल्यादिदोषौ | ... | ८-८९ |
| तयोर्बाल्यवार्धक्ये दिनप्रमाणम् | ... | ९-८९ |
| विवाहे केषां ग्रहाणां बलावश्यकत्वं तत्कथनम् | ... | १०-९१ |
| द्वादशस्थानेषु बुधगुरुशुक्राणां स्थितौ मतान्तरम् | ... | ११-९१ |

चन्द्रबलाऽध्यायः ६.

| | | |
|---|-----|-----------|
| वरस्य चन्द्रबलापवादः | ... | १-९२ |
| चन्द्रबलाभावेऽनिष्टफलकथनमपवादश्च | ... | २-९३-३-९४ |
| चन्द्रे हीनबले सति विशेषः | ... | ४-९४ |
| अनिष्टप्रसङ्गपूर्वमतदूषणम् | ... | ५-९५ |
| युक्त्यन्तरेण पुनर्दूषणम् | ... | ६-९६ |
| वरस्य चन्द्रबलेऽन्यग्रहबलेऽपि च सिद्धान्तः | ... | ७-९७-८-९७ |
| मतान्तरदोषे उपन्यासः | ... | ९-९८ |
| अथ कृष्णपक्षे चन्द्रदुष्टता तत्र सिद्धान्तश्च | ... | १०-९९ |
| ... | ... | ११-१०० |

राहुसत्ताध्यायः ७.

| | | |
|---|-----|--------|
| आदौ राहोरभावे वराहमिहिरमतम् | ... | १-१०१ |
| राहोरस्तित्वे प्रमाणांतरम् | ... | २-१०२ |
| राहोः पातविवादे समाधानम् | ... | ३-१०३ |
| राहोश्चन्द्रग्रसने हेतुः | ... | ४-१०४ |
| प्रतिपर्वणि ग्रहणासंभवकारणम् | ... | ५-१०५ |
| संहिताजातकयोर्मतम् | ... | ६-१०६ |
| भौमादिपातानां ग्रहत्वं नास्ति तत्र हेतुः | ... | ७-१०७ |
| राहोः स्थानवशेन केतुस्थितिः | ... | ८-१०८ |
| ग्रहपदे राहोःप्रस्थापने हेतुः | ... | ९-१०९ |
| गोलयुक्त्यापि राहोरभावकथनम् | ... | १०-११० |
| अन्यग्रहाणां पातविषये विशेषः | ... | ११-१११ |
| असंपातः स एव राहुरित्यर्थे प्रमाणान्तरम् | ... | १२-१११ |
| सूक्ष्मदृष्ट्याराहोरस्तित्वे युक्त्यन्तरम् | ... | १३-११२ |
| राहुपातस्यदिनाधिपत्यं नास्ति तत्र हेतुः | ... | १४-११३ |
| राहोर्गतिसद्भावे प्रमाणम् | ... | १५-११४ |
| केतोरपि ग्रहत्वसंस्थापनम् | ... | १६-११५ |
| ग्रहणे तमः प्रत्यक्षं दृश्यते तत्र भोजराजमतम् | ... | १७-११५ |
| राहोः सिद्धयसिद्धौ विशेषः | ... | १८-११६ |
| सिद्धान्तपक्षे पुराणगणितादीनां मतम् | ... | १९-११७ |
| देवापराह्णापररात्रिकालनियमः | ... | २०-११८ |
| प्राक्पश्चिमकपालनिरूपणम् | ... | २१-११९ |

विषयाः

श्लोकाङ्काः पृष्ठाङ्काः

| | | | |
|----------------------------------|------|-----|--------|
| राहुसद्भावे प्रमाणान्तरम् | ... | ... | २२-१२० |
| राहोर्ग्रहत्वे भङ्गचन्तरेण दृढता | | ... | २३-१२१ |

षड्वर्गाध्यायः ८.

| | | | |
|---|-----|-----|--------|
| आदौ तन्वादिभाषानयनम् | ... | ... | १-१२२ |
| लग्नादिशोधनप्रकारः | ... | ... | २-१२३ |
| ग्रहफलानां भावकल्पनवशात्तारतम्यम् | ... | ... | ३-१२३ |
| भावस्वाभाविकयोर्विभेदे निर्णयः | ... | ... | ४-१२४ |
| तत्र सयुक्तिकं द्वितीयोदाहरणम् | ... | ... | ५-१२४ |
| संक्रांतिज्ञानमात्रेण सूर्यलग्नांशज्ञानम् | ... | ... | ६-१२५ |
| सूर्यलग्नांशज्ञानाभ्यां कालज्ञानम् | ... | ... | ७-१२६ |
| लग्नात्कालहोराकथनम् | ... | ... | ८-१२६ |
| पापग्रहहोराभङ्गः | ... | ... | ९-१२७ |
| कालहोराकथनानन्तरं वारप्रवृत्तिः | ... | ... | १०-१२८ |
| होरानयनप्रकारः | ... | ... | ११-१३० |
| प्रसङ्गेनान्यमहादोषकथनम् | ... | ... | १२-१३० |
| लग्ने षड्वर्गशुद्धिः | ... | ... | १३-१३२ |
| सौम्यपापवर्गज्ञानाय राश्याधिपकथनम् | ... | ... | १४-१३३ |
| रविचन्द्रहोराद्रेष्काणादिकथनम् | ... | ... | १५-१३४ |
| तिथ्यादीनां संधिकालः | ... | ... | १६-१३५ |
| भौमादीनामपि संक्रमणकालः | ... | ... | १७-१३६ |

विषयाः

श्लोकाङ्काः पृष्ठाङ्काः

राहुसत्ताध्यायः ७.

| | | |
|---|-----|--------|
| आदौ राहोरभावे वराहमिहिरमतम् | ... | १-१०१ |
| राहोरस्तित्वे प्रमाणांतरम् | ... | २-१०२ |
| राहोः पातविवादे समाधानम् | ... | ३-१०३ |
| राहोश्चन्द्रग्रसने हेतुः | ... | ४-१०४ |
| प्रतिपर्वणि ग्रहणासंभवकारणम् | ... | ५-१०५ |
| संहिताज्ञातकयोर्मतम् | ... | ६-१०६ |
| भौमादिपातानां ग्रहत्वं नास्ति तत्र हेतुः | ... | ७-१०७ |
| राहोः स्थानवशेन केतुस्थितिः | ... | ८-१०८ |
| ग्रहपदे राहोःप्रस्थापने हेतुः | ... | ९-१०९ |
| गोलयुक्त्यापि राहोरभावकथनम् | ... | १०-११० |
| अन्यग्रहाणां पातविषये विशेषः | ... | ११-१११ |
| असंपातः स एव राहुरित्यर्थे प्रमाणान्तरम् | ... | १२-१११ |
| सूक्ष्मदृष्ट्याराहोरस्तित्वे युक्त्यन्तरम् | ... | १३-११२ |
| राहुपातस्यदिनाधिपत्यं नास्ति तत्र हेतुः | ... | १४-११३ |
| राहोर्गतिसद्भावे प्रमाणम् | ... | १५-११४ |
| केतोरपि ग्रहत्वसंस्थापनम् | ... | १६-११५ |
| ग्रहणे तमः प्रत्यक्षं दृश्यते तत्र भोजराजमतम् | ... | १७-११५ |
| राहोः सिद्धयसिद्धौ विशेषः | ... | १८-११६ |
| सिद्धान्तपक्षे पुराणगणितादीनां मतम् | ... | १९-११७ |
| देवापराह्णापररात्रिकालनियमः | ... | २०-११८ |
| प्राक्पश्चिमकपालनिरूपणम् | ... | २१-११९ |

विषयाः

श्लोकाङ्काः पृष्ठाङ्काः

| | | | |
|-----------------------------------|------|-----|--------|
| राहुसद्भावे प्रमाणान्तरम् | ... | ... | २२-१२० |
| राहोर्ग्रहत्वे भङ्ग्यन्तरेण दृढता | | ... | २३-१२१ |

षड्वर्गाध्यायः ८.

| | | | |
|---|-----|-----|--------|
| आदौ तन्वादिभाषानयनम् | ... | ... | १-१२२ |
| लग्नादिशोधनप्रकारः | ... | ... | २-१२३ |
| ग्रहफलानां भावकल्पनवशात्तारतम्यम् | ... | ... | ३-१२३ |
| भावस्वाभाविकयोर्विभेदे निर्णयः | ... | ... | ४-१२४ |
| तत्र सयुक्तिकं द्वितीयोदाहरणम् | ... | ... | ५-१२४ |
| संक्रांतिज्ञानमात्रेण सूर्यलग्नांशज्ञानम् | ... | ... | ६-१२५ |
| सूर्यलग्नांशज्ञानाभ्यां कालज्ञानम् | ... | ... | ७-१२६ |
| लग्नात्कालहोराकथनम् | ... | ... | ८-१२६ |
| षापग्रहहोराभङ्गः | ... | ... | ९-१२७ |
| कालहोराकथनानन्तरं वारप्रवृत्तिः | ... | ... | १०-१२८ |
| होरानयनप्रकारः | ... | ... | ११-१३० |
| प्रसङ्गेनान्यमहादोषकथनम् | ... | ... | १२-१३० |
| लग्ने षड्वर्गशुद्धिः | ... | ... | १३-१३२ |
| सौम्यपापवर्गज्ञानाय राश्यधिपकथनम् | ... | ... | १४-१३३ |
| रविचन्द्रहोराद्रेष्काणादिकथनम् | ... | ... | १५-१३४ |
| तिथ्यादीनां संधिकालः | ... | ... | १६-१३५ |
| भौमादीनामपि संक्रमणकालः | ... | ... | १७-१३६ |

विषयाः

श्लोकांकाः पद्यांकाः

| | | | |
|-------------------------------------|-----|-----|--------|
| कृत्यानयनप्रकारः | ... | ... | १८-१३६ |
| कृत्वादीनां सन्धिकालः | ... | ... | १९-१३७ |
| कृत्वादीनां सन्धिफलकथनम् | ... | ... | २०-१३८ |
| शूलादियोगसंधीनां विशेषः | ... | ... | २१-१३८ |
| नक्षत्रादिसन्धिषु त्याज्यनाड्यः... | ... | ... | २२-१३९ |
| अमाविषयकत्याज्यदिनादिः | ... | ... | २३-१३९ |
| द्वितीयानिषेधे मतान्तरम् | ... | ... | २४-१४० |
| जन्ममासादीनां निषेधः | ... | ... | २५-१४१ |
| एषां गुणदोषाणां विवेककर्तुः प्रशंसा | ... | ... | २६-१४२ |

गोधूलिकाऽध्यायः ९.

| | | | |
|-------------------------------------|-----|-----|-------|
| गोधूलिकलग्नकालः | ... | ... | १-१४३ |
| गोधूलिकलग्नेऽधिकारिणः | ... | ... | २-१४४ |
| चंद्रेऽष्टमे विशेषः | ... | ... | ३-१४५ |
| गोधूलिकेनवांशादीनामभावेऽपि दोषाभावः | ... | ... | ४-१४६ |
| गोधूलिके यदि लोक्यं तत् | ... | ... | ५-१४७ |
| विलोक्यस्य परिमाणम् | ... | ... | ६-१४८ |

मासगोचरविचाराऽध्यायः १०.

| | | | |
|---|-----|-----|-------|
| आदौ सौरचान्द्रमासयोर्विचारः | ... | ... | १-१५१ |
| सौरचान्द्रमासयोर्विरोधे सयुक्तिकनिर्णयः | ... | ... | २-१५३ |
| तत्र सिद्धान्तः | ... | ... | ३-१५४ |
| सौरचान्द्रमासयोर्वलावलत्वम् | ... | ... | ४-१५४ |

विषयाः

श्लोकांकाः पृष्ठांकाः

| | | | |
|-------------------------|-----|-----|-------|
| वधूवरयोगोचरग्रहबलविचारः | ... | ... | ५-१५५ |
| गोचरमुखत्वम् | ... | ... | ६-१५६ |
| तस्योदाहरणम् | ... | ... | ७-१५६ |

ग्रहयोगाऽध्यायः ११.

| | | | |
|--|-----|-----|--------|
| द्वादशभावचक्रस्य पूर्वोत्तरार्धे द्विदलत्वम् | ... | ... | १-१५७ |
| ध्वजयोगकथनं तत्फलं च | ... | ... | २-१५८ |
| वापीयोगकथनम् | ... | ... | ३-१५९ |
| शंखयोगलक्षणम् | ... | ... | ४-१५९ |
| श्रीवत्सयोगः | ... | ... | ५-१६० |
| कार्मुकयोगः | ... | ... | ६-१६० |
| आनन्दयोगः | ... | ... | ७-१६१ |
| कुठारयोगः | ... | ... | ८-१६१ |
| कूर्मयोगः | ... | ... | ९-१६२ |
| अर्धचन्द्रयोगकथनम् | ... | ... | १०-१६२ |
| मुसलयोगः | ... | ... | ११-१६६ |
| गजयोगः | ... | ... | १२-१६३ |

ग्रहाणां भावकुंडलिकाऽध्यायः १२.

| | | | |
|---|-----|-----|-------|
| आदौ लग्नस्थग्रहाणां पृथक्त्वेन फलकथनम्... | ... | ... | १-१६४ |
| धनभावस्थग्रहाणां फलम् | ... | ... | २-१६५ |
| तृतीयस्थानस्थग्रहाणां फलम् | ... | ... | ३-१६६ |
| चतुर्थपंचमस्थानस्थग्रहाणां फलम् | ... | ... | ४-१६७ |

विषयाः

श्लोकांकाः पृष्ठांकाः

षष्ठस्थाद्वादशस्थानावधिस्थितग्रहाणाम्

पृथक्त्वेन फलकथनम्

... ५-१३-१६७-१७२

ग्रहयोगादिवलाबलाऽध्यायः १३.

| | | |
|--|-----|--------|
| आदौ भावफलोपसंहारादिकथनम्... | ... | १-१७४ |
| सप्तमदशमचन्द्रस्य विशेषः ... | ... | २-१७५ |
| सप्तशुभयोगकथनम् ... | ... | ३-१७६ |
| एषां योगानां जन्मयात्रास्वपि श्रैष्ठ्यम् ... | ... | ४-१७६ |
| अथापरं शुभयोगपंचकम् ... | ... | ५-१७७ |
| अन्यदुष्टयोगद्वयम् ... | ... | ६-१७८ |
| ग्रहविशेषेण फलवशात्फलान्तराणि ... | ... | ७-१७९ |
| पत्यादीनामशुभशुभप्राप्तिहेतुयोगाः ... | ... | ८-१८० |
| अनपत्यतादियोगाः ... | ... | ९-१८० |
| शास्त्रविरुद्धपद्धतेर्निर्मूलत्वादुपहासः ... | ... | १०-१८१ |
| जामित्रदोषस्य भंगकथनम् ... | ... | ११-१८२ |
| परिपूर्णजामित्रे अभङ्गत्वम् ... | ... | १२-१८२ |
| अथैषां योगानां विचारगम्यत्वम् ... | ... | १३-१८३ |
| विचारकर्तुर्दैवज्ञस्य पूज्यत्वकथनम् ... | ... | १४-१८४ |

मिश्राऽध्यायः १४.

| | | |
|--|-----|-------|
| स्त्रीपुंसयोः सामुद्रिकलक्षणे कारणम् ... | ... | १-१८५ |
| स्वप्नादिफलमार्गकथनम् ... | ... | २-१८६ |
| फलमार्गाणामनेकत्वे तत्समाधानम् ... | ... | ३-१८७ |

विषयाः

छाकांकाः पृष्ठांकाः

| | | |
|---|-------------------|--------------|
| प्राक्कर्मैव फलतीति यन्मतं तस्य निरासः | ... | ४-१८८ |
| अथ श्लोकसप्तकेन प्रकृतस्वस्थारिष्टकथनम् | ५-११-९-१९३ | |
| छायालक्षणेनारिष्टज्ञानम् | ... | १२-१९३ |
| श्लोकत्रयेण पुरुषलक्षणकथनम् | १३-१५-१९४-१९५ | |
| श्लोकत्रयेण वधूलक्षणानि | ... १६-१८-१९६-१९८ | |
| श्लोकषट्केन स्त्रीपुंसयोर्हस्तचरणगतरखा | | |
| लक्षणानि | ... | १९-१९८२४-२०१ |
| करे चरणे वा राजचिह्नलक्षणम् | ... | २५-२०२ |
| स्त्रीपुंसयोर्मुख्यलक्षणम् | ... | २६-२०२ |
| अथ निमित्तानि तत्र वरणकाले पक्षिचेष्टितम् | | २७-२०३ |
| शुनश्चेष्टितम् | ... | २८-२०४ |
| उपश्रुतिशकुनकथनम् | ... | २९-२०४ |
| विवाहनक्षत्राणि कुलधर्मानतिक्रमश्च | ... | ३०-२०५ |
| वेदिकानिर्माणप्रकारः | ... | ३१-२०५ |
| इन्द्राणीपूजनादिकम् | ... | ३२-२०६ |

वधूवरप्रश्नाऽध्यायः १६.

| | | |
|--|-------------|-------|
| तत्रादौ श्लोकद्वयेन वरस्यवधूप्राप्त्यर्थकः प्रश्नः | १-२-२०७-२०८ | |
| कन्याया वरोपलब्धिप्रश्नः | ... | ३-२०९ |
| श्लोकद्वयेन वधूवरप्रश्नकालेशुभाशुभयोगकथनम् | ४-५-२१०-११ | |
| विवाहे दलनकंडनादिशुभाशुभकालः | ... | ६-२१२ |
| अस्यविवाहपटलस्यपूर्वोयोपिवैशिष्ट्यम् | ... | ७-२१३ |

विषयाः

श्लोकांकाः

पुष्पांकाः

स्ववंशवर्णनाऽध्यायः १६.

| | | | |
|---------------------------------|-----|-----|-------|
| स्ववंशवर्णनपूर्वकग्रन्थालङ्कारः | ... | ... | १-२१४ |
| जनार्दनमूनोर्वर्णनम् | ... | ... | २-२१५ |
| ग्रन्थकरणे हेतुः | ... | ... | ३-२१५ |
| ज्ञातृणां प्रार्थना | ... | ... | ४-२१६ |

लग्नशुद्ध्यध्यायः १७.

| | | | |
|--------------------------------------|-----|-----|-------------|
| आदौ विवाहे विहितनक्षत्रादिकथनम् | ... | ... | १-२१८ |
| श्लोकत्रयेण नक्षत्रशुद्धिकथनम् | ... | ... | २-४-२१९-२२० |
| लग्नशुद्धिकथनम् | ... | ... | ५-२२१ |
| नवांशशुद्ध्यादिकथनम् | ... | ... | ६-२२२ |
| अष्टमलग्नादिदोषाः | ... | ... | ७-२२३ |
| श्लोकयुग्मेन पलभाचरोदयादिकथनम् | ... | ... | ८-९-२२५ |
| संक्रान्तिरेकज्ञानकथनम् | ... | ... | १०-२२६ |
| इष्टकालज्ञानम् | ... | ... | ११-२२७ |
| इष्टकालालग्नज्ञानम् | ... | ... | १२-२२७ |
| षड्वर्गहोरादिकथनम् | ... | ... | १३-२२८ |
| होरायाः प्रकारान्तरार्थं देशान्तरचरे | ... | ... | १४-२२८ |
| प्रकारान्तरेण कालहोराकथनम् | ... | ... | १५-२२९ |
| षड्वर्गकथनम् | ... | ... | १६-२३० |
| ग्रन्थसमाप्त्यलङ्कारः | ... | ... | १७-२३१ |

॥ इति विवाहवृन्दावनविषयानुक्रमणिका समाप्ता ॥

॥ श्रीगणेशाय नमः ॥

अथ विवाहवृन्दावनम् ।

विवाहदीपिकाव्याख्यासमेतम् ।



तीर्थानामधिपः कुभृच्छ्रितपदोऽसंत्यक्तवेलास्थिति-
र्यत्पर्याप्तकलाद्विजाधिपसमीक्षातोरुमुत्पूरभृत् ॥

लक्ष्मीशोखिलदानवारिसततप्रसिग्धसद्भक्षिति-

घोषध्वस्तमलो जयत्युरुकृपासिंधुर्गुरुः केशवः ॥१॥

अर्थचतुष्टयवाची ॥ तत्र प्रथमं गुरुपक्षे-केशवो गुरुर्जय-
ति सर्वोत्कर्षेण वर्तते । गृणात्युपादिशति शास्त्राणीति गुरुः ।
तमेव सर्वोत्कर्षं द्योतयति तीर्थानामधिप इत्यादिविशेष-
णैः, 'तीर्थो ध्वरे गुरौ मार्गे' इत्यभिधानात् । तीर्थानां
गुरूणामधिपः महागुरुरित्यर्थः । तल्लक्षणमाह स्मृतिः-
“पिता पुत्रमुत्पाद्य संस्कृत्य वेदान्वेदार्थांश्च ब्राह्मयित्वा
वृत्तिं कल्पयति स महागुरुर्भवति” इति । यद्वा-तीर्थानां
गंगादीनामधिपः “सर्वतीर्थमयो गुरुः” इति स्मृतेः । कुभृ-
च्छ्रितपदः कुभृतो राजानस्तैः श्रितं सेवितं पदं यस्यासौ
तथा । असंत्यक्तवेलास्थितिः न संत्यक्ता वेलासु पूर्वाह्ना-

दिकालेषु स्थितिर्विहिताचारो येनासौ तथा । यत्पर्याप्त-
 कलद्विजाधिपसमीक्षात्तोरुमुत्पूरभृत् यस्मात्पर्याप्ताः
 प्राप्ताः कलाः पठनादयो यैस्ते यत्पर्याप्तकलाः ते च ते
 द्विजाधिपा विप्रश्रेष्ठास्तेषां समीक्षा संदर्शनं तथा आप्ता
 प्राप्ता उरुः अधिका मुद्धर्षः तस्य पूरस्तं विभर्तीति तथा ।
 लक्ष्मीशः पशुधान्यादिधनवान् । यद्वा-लक्ष्मीनाम्नी मम
 जननी तस्य ईशः पतिः । अखिलदानवारिसततप्रस्नि-
 ग्धसद्भक्षितिः अखिलानि अनेकानि च तानि दानानि
 च तेषां वारि उदकं तेन सततमनवरतं प्रस्निधा प्रकर्षे-
 णार्द्रा सद्भक्षितिर्गृहभूमिर्यस्यासौ तथा । घोषध्वस्तमलः
 घोषेण अध्ययनादिघोषश्रवणेन ध्वस्तो मलः पापं यस्य
 स तथा । जनानामिति शेषः । उरुकृपासिन्धुः उरुः पृथुर्या
 कृपा तस्याः सिन्धुः कृपासागरः ॥ अथ समुद्रपक्षे—कथं
 भूतः सिन्धुः तीर्थानामधिपस्तीर्थराजः । कुभृच्छ्रितपदः
 कुभृतः पर्वता मैनाकादयः तैः श्रितमाश्रितं पदं स्थानं
 यस्यासौ तथा “पदं व्यवसितत्राणस्थानलक्ष्मांश्रिव-
 स्तुषु” इत्यभिधानात् । असंत्यक्तवेलास्थितिः वेला
 समुद्रतीरं तस्याः स्थितिर्मर्यादा असंत्यक्ता वेलास्थितिर्ये-
 न स तथा । यदित्यव्ययम् । यत् यस्मिन्काले पर्याप्तकलः
 परिपूर्णकलो द्विजाधिपश्चंद्रस्तस्य समीक्षा समुदयः तेन
 आप्ता प्राप्ता उरुरधिकतरा मुद्धर्षो येन स तथा । तदापूर
 भृजलपूरभृत्स्यात् । चंद्रोदये हि समुद्रस्य जलभरः । अ-

त्रापि पूर्णचंद्रोदये अधिकपूर इति भावः । लक्ष्मीशः लक्ष्म्या ईशः पिता । अखिलदानवारिसततप्रस्निग्धसद्भक्षितिः अखिला दानवारयो देवाः तैः सततं प्रस्निग्धा शोभमाना सद्भक्षितिः स्थानभूमिर्यस्यासौ तथा । यत्स्थाने विष्ण्वादिदेवा निवसन्तीत्यर्थः । घोषध्वस्तमलः घोषेण गर्जनेन ध्वस्तः मलः पातकं येन स तथा “सुग्रीव सफलं जन्म ये वसन्ति महोदधौ ॥ अहर्निशं प्रघोषेण ब्रह्महत्या विलीयते” इति पुराणात् ॥ अथ विष्णुपक्षे—केशवो नारायणो जयति । गुरुः उद्धवार्जुनादीनां ज्ञानोपदेष्टा । तीर्थानामधिपः, गंगादीनां तत्पादन्यत्वात् । कुभृच्छ्रुतपदः कुभृद्धरणीधरः शेषः तत्र श्रितं पदं यस्य स तथा, शेषशायीत्यर्थः । असंत्यक्तवेलास्थितिः असंत्यक्ता वेलायां समुद्रतीरे द्वारकादौ स्थितिर्निवसतिर्येनासौ तथा । यत्पर्याप्तकलद्विजाधिपसमीक्षातोरुमुत्पूरभृत् यस्मात् पर्याप्ताः शौर्यादिकला येन सः यत्पर्याप्तकलः, द्विजाः पक्षिणस्तदधिपो गरुडः यत्पर्याप्तकलश्चासौ द्विजाधिपश्च तस्य समीक्षासंदर्शनं तथा आत्मा उरुर्महती मुद्धर्षस्तस्याः पूरस्तं बिभर्तीति तथा । लक्ष्मीशो लक्ष्मीपतिः । अखिलदानवारिसततप्रस्निग्धसद्भक्षितिः दानवारि दंतिनां मदजलं तेन सततं प्रस्निग्धा आर्द्राकृता, अखिला समग्रा दानवारिसततप्रस्निग्धा सद्भक्षितिर्गृहांगण-

भूमिर्यस्यासौ तथा कृष्णरामावतारयोः यस्य गृहांगण-
भूमिरेवंविधेति पुराणप्रसिद्धा । घोषध्वस्तमलः घोषा-
णां व्रजस्थितगोपादीनां ध्वस्तः मलो येनासौ तथा
कृष्णावतारे प्रसिद्धमिदम् । उरुकृपासिंधुः महासत्त्वगुण-
त्वात् ॥ अथ सूर्यपक्षे केशवः सूर्यः केशा रश्मयः प्रश-
स्ताः केशा यस्यासौ केशवः “केशाद्रोन्यतरस्याम् ” इ-
ति प्रशंसायां मतुबर्थे वः । कथंभूतः केशवः । गुरुः रोमकम-
यासुरादीनां ज्योतिःशास्त्रादिज्ञानोपदेष्टा । अत एव ती-
र्थानामधिपः तीर्थानां ज्योतिःशास्त्रादीनामधिपः प्रव-
र्तकः ‘तीर्थं शास्त्राध्वरक्षेत्रेषु’ इत्यभिधानात् । कुभृच्छ्रि-
तपदः कुभृदुदयाचलः तत्र श्रितं पदं येन तथा ‘उद-
यशिखरिशृंगस्वर्णसिंहासनस्थ’ इत्युक्तः । असंत्यक्त-
वेलास्थितिः वेला कालः तस्य स्थितिर्वत्सरदिनादि-
नियमः असंत्यक्ता वेलास्थितिर्येनासौ तथा । यत्पर्याप्त-
कलं द्विजाधिपसमीक्षा कर्त्री । आप्तोरुमुत्पूरभृत्स्या-
त् यस्मात्सूर्यात्पर्याप्ताः प्राप्ताः कला येनासौ यत्पर्या-
प्तकलः स चासौ द्विजाधिपश्चंद्रस्तस्य समीक्षा संदर्शनं
चंद्रस्य प्रतिदिनं कलावृद्धिः क्षयश्च सूर्यकिरणसंसर्गा-
द्भूत इति ग्रहगणिते वासना प्रसिद्धा आप्तास्तद्दर्श-
नलालसाः तेषामुरुर्मुत्पूरः महाहर्षभरस्तं विभर्ति
षुष्णातीति तथा । लक्ष्मीशः लक्ष्म्यो दीप्तयः तासामीशः
अखिलतैजसाधीशः । अखिलदानवारिसत्प्रसिद्धसद्ग

क्षितिः अखिलाश्च ते दानवारयश्च इंद्रादिदेवाः तैः सततं
प्रस्रिग्धा शोभमाना सद्भक्षितिःस्थानभूमिर्यस्यासौ तथा
इंद्रादिदेवैः सेवित इति तात्पर्यार्थः । घोषध्वस्तमलः
घोषेण नामगर्जनेन ध्वस्तो मलः येनासौ तथा । उरुकृपा-
सिंधुः महाकृपासागरः, स्थावरजंगमजगत इति शेषः ।
“आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः” इत्याद्युक्तेः ।
इत्येते मदुदितश्लोकस्यार्थाः ॥ अथ प्रकृतम् ।

बध्नातिस्मविवाहपूर्वकपदं वृंदावनं केशवादित्यो यत्कु-
टिलोक्तियुक्तिबहुलं बह्वर्थगूढं पदैः ॥ हेलागम्यमनल्प-
दृष्टसुधियां तत्रेतरेषां तथा तस्मात्तद्विवृतिं विशेषसहि-
तामारब्धुमस्म्युत्सुकः ॥ २ ॥ नानाकलागमपटुर्भुवि गी-
तकीर्तिः श्रीकेशवस्य तनयः कुरुते गणेशः ॥ टीकां
भ्रमांधतमसापहरां विवाह-वृंदावनस्य करपीडनदीपि-
कारुयाम् ॥ ३ ॥ व्याख्यामात्रेण तुप्यंतु ये के चोच्चाव-
चा इह ॥ मतिमंतस्तु सद्युक्तिविशेषरचनैरपि ॥ ४ ॥ कृ-
त्वादौ ग्रहलाघवाख्यकरणं तिथ्यादिसिद्धिद्वयं श्लोकैः
श्राद्धविधिं सवासनतया लीलावतीव्याकृतिम् ॥ सप्र-
क्षेपमुद्धृततत्त्वविवृतिं पर्वादिसन्निर्णयं तस्मान्मंगल-
निर्णयाद्यथ कृता वैवाहसदीपिका ॥ ५ ॥

श्रीभरद्वाजमुनिश्रेष्ठवंशोद्भव औदीच्यज्ञातिमंडनः सक-
लागमाचार्यवर्यो ज्योतिर्वित्कुलावतंसोऽनेककलाकला-
पचतुरः श्रीदैवज्ञराणगतनयः श्रीकेशवार्कः कणरः कंठी-

स्वाद्युक्त्वा निजां सत्कविताविशेषरचनासमेतां वाक्यवि-
चारचातुरीं दर्शयन्संहितास्कन्धैकदेशभूतं विवाहपटलं
चिकीर्षुर्जन्मजन्मांतरार्जितदुरितोत्पन्नं प्रत्यूहनिरासेन
ग्रंथसमाप्त्यर्थं समाप्तेऽपि ग्रंथे तत्प्रचारार्थं शिष्टाचार-
परिपालनेन शिष्यशिक्षार्थं च आशीर्लक्षणं मंगलमा-
चरन् श्रीलक्ष्मीनारायणयोर्विवाहलक्षणं प्रथमसन्निवेशनं
वसंततिलकावृत्तेन वर्णयति—

श्रीशार्ङ्गिणोः सृजतु वो नवसन्निवेशः

क्लेशव्ययं चलवलन्नयनांचलश्रीः ॥

यत्रांचलग्रथनमंगलमाचचार

शृंगारहारमणिकौस्तुभरश्मिगुंफः ॥ १ ॥

श्रीशार्ङ्गिणोरिति॥ श्रूयते विश्वमेतां सा श्रीः शार्ङ्गं यस्या-
स्तीति शार्ङ्गी तयोर्लक्ष्मीनारायणयोः स नवसन्निवेशः
नवसंगमः “संनिवेशस्तु संस्थायां प्रवेशे संगमेऽपि च” इत्य-
भिधानात् । वः युष्माकं क्लेशव्ययं सृजतु करोत्वित्याशीः ।
नवसंनिवेशजातिं विशेषणद्वारेणाह—चलवलन्निति । च-
लतस्तौ चलौ वलतस्तौ वलंतौ स्थानांतरगमनं च-
लनं तस्मात्परावर्तनं वलनं चलाश्च वलंतश्च चलव-
लंतः नयनानामंचलाः प्रांता नयनांचलाः चलवलंत-
श्च ते नयनांचलाश्च चलवलन्नयनांचलास्तेषां श्रीः
शोभा यस्मिन्नवसंनिवेशे स तथा । समासांतविधेरनि-
त्यत्वात्कप्रत्ययाभावः । सानुरागपरस्परावलोकनेन

नयनांचलौ चंचलौ वलंतौ चेति जातिः लज्जाकुलतया
 नयनांचलाभ्यामेवावलोकनं युक्तं, स कः यत्र नवसंनि-
 वेशे शृंगारहारमणिकौस्तुभरश्मिगुंफः अंचलग्रथन-
 मंगलमाचचार आचीर्णवान् । शृंगारस्य हारः शृंगार-
 हारः तस्य मणिः शृंगारहारमणिः स च कौस्तुभश्च
 शृंगारहारमणिकौस्तुभौ तयोः रश्मयस्तेषां गुंफः । गुंफ
 ग्रथने । गुंफनं गुंफः ग्रथनमिति यावत् । अंचलयोर्ग्र-
 थनं तदेव मंगलमंचलग्रथनमंगलं श्रियः शृंगारहार-
 मणिः शार्ङ्गिणस्तु कौस्तुभः तद्गन्तव्यानां परस्परं ग्रथन-
 मंचलग्रथनभावं प्रापेत्यर्थः । विवाहसमये वधूवरप्रा-
 वृतवस्त्रांचलग्रथनं मंगलत्वेन क्रियत इति शिष्टसमा-
 चारः । स तु प्रागेव शृंगारहारमणिकौस्तुभरश्मिगुंफने-
 नैव निष्पन्न इति भावः । अत्र मंगलार्थं गणादिदोषनि-
 रासार्थं चादौ श्रीशब्दप्रयोगः । तदुक्तं “देवतावाचकाः
 शब्दा ये च भद्रादिवाचकाः॥ते सर्वे नैव निन्द्याः स्युर्लिपितो
 गणतोपि वा” इति । यथा “श्रियः कुरूणामधिपस्य”
 इत्यादौ ॥ १ ॥

संवर्ग्यं गर्गभृगुभागुरिरैभ्यगीर्भ्यः

सारं वराहमिहिरादिमतानुसारम् ॥

स्फारत्स्फुरत्परिमलाढ्यफलं विवाह-

वृंदावनं विरचयामि विचाररम्यम् ॥ २ ॥

अथास्य ग्रंथस्य आर्षमूलत्वेन प्रामाण्यं तथा प्राची-
नग्रंथेभ्यो वैशिष्ट्यं द्योतयन्संबन्धादिचतुष्टयगर्भं तदारं-
भहेतुं वसंततिलकय -संवर्ग्येति । अहं विवाहवृन्दाव-
नं नाम ग्रंथं विरचयामि । अन्वर्थं नाम-विवाह इव वि-
वाहः स्त्रीपुरुषसमागमलक्षणः तदर्थं वृन्दावनमिव वृन्दा-
वनं विवाहवृन्दावनं कृष्णो हि तत्र गोपीभिः सह परस्पर-
रपाणिधारणपूर्वकरासक्रीडादिकं कृतवान् अन्येपि शूर-
सेनसुषेणादयः । वृन्दावनं नाम वनं यमुनातीरे प्रसिद्धम् ।
यद्वा-विवाहानां वृन्दं विवाहवृन्दं तदवतीति विवाहवृन्दाव-
नम् । अत्र हि सम्यक्सदसत्फलनिरूपणेन असत्समय-
परित्यागात्समयविवाहकरणेन पुत्राद्यभिवृद्धिद्वारा वि-
वाहावनत्वं युक्तमस्य ग्रंथस्य । कथंभूतं विवाहवृन्दावनं
स्फारत्स्फुरत्परिमलाढ्यफलं स्फारंति तानि स्फारंति
विस्तृतानि । स्फुर स्फूर्तौ । स्फुरंति तानि स्फुरंति विकस-
मानानि, परिगतो मलः परिमलः दोषाभावः । “कुग-
तिप्रादयः” इति तत्पुरुषः । तेनाढ्यानि परिमलाढ्यानि
स्फारंति स्फुरंति परिमलाढ्यानि फलानि नक्षत्रफला-
दीनि यस्मिंस्तथा । नः कीदृशं विचाररम्यं नानावि-
धविरुद्धमुनिवाक्यानां पूर्वपक्षसिद्धांतरूपसारासारविचा-
रेण रम्यम् । किं कृत्वा गर्गादिगीर्भ्यः सारं संवर्ग्य गर्गादयो
यवनसितपुलस्त्यादीनामुपलक्षणम् तेषामप्यत्र मतोप-
न्यासदर्शनात् । गर्गादीनां गिरः वचनानि तेभ्यः एक-

देशीयादिवाक्यपरित्यागेन बहुमतस्वीकारात्मकं सारं
 संवर्ग्य मेलयित्वा । न केवलं समत्वेनैव सारं संवर्गितं
 किंतु वराहमिहिरादिमतानुसारम् । आदिशब्देन लल्लश्री-
 पतिश्रीधरादीनां ग्रहणं, वराहमिहिरादीनां मतमनु-
 सरतीति तथा, गर्गादिवाक्यानां सरासारपर्यालोचनया
 वराहादिमतानुसारं विचार्य विरचयामीत्यर्थः । अत्रत्या-
 नां मद्बचनानामपि गर्गादिमुनिवाक्यमूलत्वेन प्रामा-
 ण्यमिति भावः । स्फारदित्यादिविशेषणद्वयेन पूर्वग्रंथे-
 भ्योस्य वैशिष्ट्यं द्योतितम् । अथ संबंधादिचतुष्टयकथ-
 नमंतरेण शास्त्रारंभवैयर्थ्यप्रसंगः । तदुक्तं “सिद्धिः श्रोतृ-
 प्रवृत्तीनां संबंधकथनाद्यतः ॥ तस्मात्सर्वेषु शास्त्रेषु
 संबंधः पूर्वमुच्यते ॥ किमेवात्राभिधेयं स्यादिति पृष्टस्तु
 केनचित् ॥ यदि न प्रोच्यते तस्मै फलशून्यं तु तद्भवेत् ॥
 सर्वस्यैव हि शास्त्रस्य कर्मणो वापि कस्यचित् । याव-
 त्प्रयोजनं नोक्तं तावत्तत्केन गृह्यते ॥” इति । एवं वृद्धोप-
 देशं हृदि मत्वा अनेनैव पद्येन संबंधः सूचितः । परिमला-
 द्यफलमित्यनेन अभिधेयं सूचितम् । तस्यास्य शास्त्र-
 स्य च प्रतिपाद्यप्रतिपादकत्वेन संबंधो वा । प्रयो-
 जनं तु शुभाशुभफलादेशः । तज्जिज्ञासुरधिकारी ।
 एतदुक्तं भवति चतुराननमुखाद्विनिःसृतस्यास्य शास्त्र-
 स्य नारदवसिष्ठादिमुनिपरंपरयास्मिँल्लोके प्रथितस्य
 ब्रह्मणा सह संबंधः । उक्तं च नारदेन “अस्य शास्त्रस्य

संबंधो वेदांगमिति धातृतः” इति । अस्य शास्त्रस्य वेदांगत्वमिति कृत्वा धातृतः संबंध इत्यन्वयः । यद्वा—वक्ष्य-
 माणाभिधेयस्य तत्प्रतिपादकशास्त्रस्य च प्रतिपाद्य-
 प्रतिपादकत्वेन संबंधः । नक्षत्रशुद्धिकालमीमांसाराशिमे-
 लकनवांशविचारग्रहगुणचंद्रताराबलराहुलत्तातिथ्यादि-
 लग्नशुद्धिगोधूलिकगोचरानिर्णयशुभाशुभयोगभावफल-
 योगबलसामुद्रिकलक्षणादिमिश्रफलवधूवरप्रश्नादिकप्र-
 तिपाद्यत्वादत्राभिधेयम् । प्रयोजनं तु जन्मजन्मां-
 तरार्जितसदसत्कर्मविपाकरूपशुभाशुभफलसूचकनक्षत्र
 ग्रहफलादिना जगतः शुभाशुभनिरूपणं, तत्राशुभफलं
 ग्रहशांत्यादिना ग्रहबलाद्युपेतः सत्समये विवाहादिसं-
 पादनेन वासशकुननिमित्तादिना वंचयिष्यत इति
 कृत्वा तथा तत्प्रतीकारनिरूपणं च । उक्तं च नारदेन—
 “ प्रयोजनं तु जगतः शुभाशुभनिरूपणम् ” इति ।
 तजिज्ञासुरधिकारी । स च द्विज एव । न तु शूद्रादिः
 वेदांगत्वात् । यतो द्विजैरेव सांगो वेदोऽध्येतव्यो ज्ञातव्य-
 श्च । उक्तंच “तस्माद्विजैरध्यनीयमेतत्पुण्यं रहस्यं परमं
 च तत्त्वम्” इति । अध्यापने तु ब्राह्मण एवाधिकारी क्षत्रि-
 यवैश्ययोरध्यापननिषेधात् । महाप्रयोजनं तु वेदांगा-
 ध्ययनेन धर्मपारिपालनत्वात् जगतोऽशुभनिराकरणेन
 च सुकृतसंचयद्वारा त्रिकालदर्शित्वेन योगितुल्या-
 वस्थां गतस्य योगिवन्निरतिशयानंदावाप्तिलक्षणमो-

क्षावाप्तिः । उक्तं च श्रीमद्भागवते गर्गं प्रति नन्देन—“ज्यो-
तिषामयनं साक्षाद्यत्तज्ज्ञानमतीन्द्रियम् । प्रणीतं भवता
येन पुमान्वेद परावरम्” इति । सिद्धांतेपि—“यो ज्योतिषं
वोत्ति नरः स सम्यग्धर्मार्थमोक्षाह्वंभते यशश्च ” इति ।
गर्गोपि—“ग्रन्थतश्चार्थतश्चैतत्कृत्स्नं जानाति यो द्विजः ।
अग्रभुक्स भवेच्छ्राद्धे पूजितः पंक्तिपावनः ॥ ” इति ।
अत्र सम्यक्पदग्रहणेनासम्यक्छास्त्रपरिज्ञानादयथा-
शास्त्रं विवाहादिफलादेशकस्य पंक्तिदूषकत्वमस्तीति-
गम्यते । यत उक्तं तेनैव—“अविदित्वैव यः शास्त्रं दैवज्ञत्वं
प्रपद्यते । स पंक्तिदूषकः पापो ज्ञेयो नक्षत्रसूचकः ॥ नक्षत्र-
सूचकोद्दिष्टमुपवासं करोति यः । स ब्रजत्यन्धतामिस्रं सा-
र्द्धमृक्षविडंविना ॥ ” इति । ऋक्षविडंविना नक्षत्रसूचकेन ।
अतश्चायथाशास्त्रमादेशक एव नक्षत्रसूचकः ‘न त्वकृत्स्न-
परिज्ञाता दैवज्ञत्वं प्रपद्यत ’ इत्युक्तत्वात् । पूर्वा-
र्जितसदसत्कर्मविपाको दैवमित्युच्यते तज्जानाती-
ति दैवज्ञः तस्यभावो दैवज्ञत्वम् । बृहस्पतिरपि—“दैवज्ञैः
शास्त्रतत्त्वज्ञैर्मुहूर्तोऽन्विष्यते यदि । सन्मुहूर्तः समन्वेष्यो
नान्यैर्नक्षत्रसूचकैः ॥ ” इति । अत एव कस्यपेन वेदपा-
रगसाहित्येनैव नक्षत्रसूचकस्य श्राद्धे पूज्यत्वं स्मर्यते
“अरिर्विश्रंभहंता च व्यंगो नक्षत्रसूचकः ॥ काणः कुंठश्च
मंदश्च श्वित्री मूर्खः सुवृत्तवान् ॥ सर्वे श्राद्धे नियोक्त-
व्या मिश्रिता वेदपारगैः ॥ ” इति । दोषोपि स्मर्यते-

“ प्रायश्चित्तं चिकित्सां च ज्योतिषं धर्मनिर्णयम् ॥
 विना शास्त्रेण यो ब्रूयात्तमाहुर्ब्रह्मघातकम् ॥ ” इति ।
 अतोऽसम्यक्छास्त्रवेदनादयथाशास्त्रं फलादेशको न-
 क्षत्रसूचकः । ननु शास्त्रैकदेशवेत्तेति सिद्धम् । अत-
 एवोक्तं गर्गादिभिः—“ वनं समाश्रिता येपि निर्मया नि-
 ष्परिश्रहाः । अपि ते परिपृच्छन्ति ज्योतिषां गतिको-
 विदम् ॥ मुहूर्ततिथिनक्षत्रमृतवश्चायने तथा । सर्वा-
 ण्येवाकुलानि स्युर्न स्यात्सांवत्सरो यदि ॥ नासां-
 वत्सारिके देशे वस्तव्यं भूतिमिच्छता । चक्षुर्भूतो हि
 यत्रैष पापं तत्र न विद्यते ॥ ” इत्यादि । मुक्तावल्यादि-
 ष्वपि—“ दशादिनकृतपापं हन्ति सिद्धांतवेत्ता त्रिदिन-
 जनितमंहस्तंत्रवेत्ता निहन्ति ॥ करणभगणवेत्ता चैकरा-
 त्रोत्थपापं जनयति बहुपापं चैकनक्षत्रसूची ” इति । एकः
 केवलः नक्षत्रसूचकः । अतोस्य शास्त्रस्यैकदेशाध्ययनेऽ-
 पि त्रैवर्णिकस्यैवाधिकारोस्तीति सिद्धम् । तत्राप्यार्य-
 वाक्यानां पाठमात्रेणापि फलमस्ति स्मृत्यादिपठन-
 वदिति ॥ २ ॥

श्रवानुराधामृगमूलरेवतीकरंमघास्दा-
 तिरदूषणोगणः॥ रवेरमीनामकरादिष-
 डगृहीकरग्रहेमंगलकृन्मृगीदृशाम्॥३॥

अथ विवाहादिसर्वकार्येषु नारदादिभिः प्रथममुद्दिष्टत्वा-
 त्पंचांगशुद्धेः प्राधान्यं तत्रापि प्राधान्यं नक्षत्रशुद्धेः । तथा

चाहुः—“भावांशशुद्धोदयमप्यशुद्धं भशुद्धिहीनं प्रवदं-
ति संतः । तस्माद्विशेषेण भशुद्धिमादौ विचार्य कार्यं
शुभमाहुरार्याः । ” इति । अतः सैव प्रथममभिधीयते सा
तूक्तनक्षाणामेव । अतः प्रथमं शुभनक्षत्राण्युक्त्वा तत्प्र-
संगेन शुभान्सौरमासांश्चाह वंशस्थवृत्तेन—ध्रुवेति ।
रोहिणी व्युत्तरा अनुराधादीनि प्रसिद्धानि करो-
हस्तः तेषां समाहारे एकवद्भावः क्लीबत्वं च । माघास्वा-
त्यौ प्रसिद्धे अयमेकादशनक्षत्रात्मको गणः चेद-
दूषणः वक्ष्यमाणपापवेधादिदोषरहितः तदा मृगीदृशां
स्त्रीणां मृगजातिः स्त्री मृगी तस्या दृगिव दृग्यासां तासां
करग्रहे विवाहे मंगलकृत्स्यात् । वक्ष्यति च—“स्यूरद-
दूषणभूषणे” इत्यादि ऋगवेधादिदोषे त्वशुभफलं तत्र तत्र
वक्ष्यति । रवेरिति । षण्णां गृहाणां समाहारः पङ्कट्ही मकर-
आदिर्यस्याः सा मकरादिः सा चासौ पङ्कट्ही च मकरा-
दिषङ्कट्ही अमीना मीनरहिता मकरकुंभमेपवृषमिथुन-
स्थोर्को विवाहे मंगलकृदित्यर्थः । नन्वत्र नक्षत्रग्रहादीनां
शुभफलकर्तृत्वं कथं युज्यते प्राचीनसदसत्कर्मविपा-
करूपस्य दैवस्यावश्यंभावित्वात् । तथाच शौनकः—“येन
तु यत्प्राप्तव्यं तस्य विधानं सुरेशसचिवोपि । यः साक्षान्नि-
यतिज्ञः सोपि न शक्तोऽन्था कर्तुम् ॥ तद्विज्ञानोपायं लग्न-
विधानेन संप्रवक्ष्यामि । जन्मन्यथवा प्रश्ने तत्सदृ-
शफलं विवाहेपि” इति ॥ अतो यथोक्ता विवाहादि-

समयाद्देवपाकज्ञानोपाया विवाहादिषु यादृशसमयावा-
 तिस्तादृशं दैवमस्तीति ज्ञेयम् । यत उक्तं तेनैव-
 “वरणप्रदानपरिणयशचीप्रपूजाभिषेककरणानि ॥
 सुशुभे तिथौ विलम्बे न भवंति किलारूपपुण्या-
 नाम्” इति ॥ अतो विवाहादिशास्त्रं दैवज्ञापकमेवेति
 नवं सद्युक्तं मन्यसे, विवाहादिषु विहितशुभकालस्य
 यंत्रादिना प्रयत्नेन पुरुषसाध्यत्वात् । सत्युभययोगे
 कर्मसिद्धिर्न केवलं दैवेनेति । तथा च वक्ष्यति “फलेद्यदि
 प्राक्तनमेव तत्किं कृष्याद्युपायेषु परः प्रयत्नः । श्रुतिः
 स्मृतिश्चापि नृणां निषेधविध्यात्मके कर्मणि किं निष-
 ण्णे” इति । यदि तु दैवमेव फलेत्तदा सर्वोपि जनः कृष्याद्यु-
 पायेषु कथं प्रवर्तते । किंच, निषेधविध्यात्मकाः श्रुतिस्मृ-
 त्यादयोपि निरर्थकाः स्युः । “न वृक्षमारोहेन कूपमवेक्षेत
 न बाहुभ्यां नदीं तरेन संशयमभ्यापद्यते” इत्यादीनामा-
 श्वलायनादिकल्पानां “श्रीकामः पुष्टिकामो वा ग्रहयज्ञं
 समाचरेत्” इत्यादियाज्ञवल्क्यादिवचनानां चिकित्सा-
 दिशास्त्रस्य च वैद्यथ्यप्रसंगः स्यादित्यर्थः । तथाच
 याज्ञवल्क्यः—“दैवे पुरुषकारे च कर्मसिद्धिर्व्यवस्थिता ।
 तत्र दैवमभिव्यक्तं पौरुषं पौर्वदेहिकम्” इति । कर्मसिद्धिः
 फलावाप्तिरिष्टानिष्टप्राप्तिलक्षणा सा च केवलं दैवेन
 व्यवस्थिता अपि तु पुरुषकारेपि । पुरुषकारः प्रयत्नः ।
 अपि च पुरुषकाराभावे दैवमेव नास्तीत्याह । तत्र दैव-

मिति। पूर्वदेहार्जितं पौरुषमेव दैवमित्युच्यते तच्च अल्प-
पुरुषकारादनंतरं महाफलोदयेन अभिव्यक्तम् । अत ए-
वाह वसंतराजः “पूर्वजन्मजनितं पुराविदः कर्म दैव-
मिति सप्रचक्षते । उद्यमेन तदुपार्जितं तद् वाञ्छितं
फलति नैव केवलम् ॥” इति । तस्मात्प्रयत्नाभावे दैवं
नास्तीत्यतो विवाहादिषु शुभकालावातिलक्षणो यत्नो
विधातव्यः । तथा च नारदः-“सर्वाश्रमाणामास्थेयं गृह-
स्थाश्रममुत्तमम् । यतस्तदपि योषायां शीलवत्यां स्थि-
तं ततः ॥ तस्याः सच्छीललब्धिस्तु सुलग्नवशतः खलु ।
पितामहोक्तां संवीक्ष्य लग्नशुद्धिं प्रचक्ष्महे” इति ॥ अतो
दैवयत्नयोरन्यतरेण फलसिद्धिर्न भवतीत्यत्र दृष्टान्तमाह
याज्ञवल्क्यः-“यथा ह्येकेन चक्रेण रथस्य न गतिर्भवेत् ।
तद्वत्पुरुषकारेण विना दैवं न सिद्ध्यति” इति ॥ अत एव
ग्रंथकारोपि वक्ष्यति “प्राक्कर्मबीजं सलिलानलोर्वीसंस्का-
रवत्कर्मविधीयमानम् । शोषाय पोषाय च तस्य तस्मा-
त्सदा सदाचारवतां न हानिः” इति ॥ यत्प्राक्कर्म तस्य शो-
षाय पोषाय च अधुना विधीयमानं कर्म भवति । किं वत्,
बीजं सलिलानलोर्वीसंस्कारवत् यथा सद्बीजं शुभैः स-
लिलादिसंस्कारैः संस्कृतं सदुदेति वर्धते च तद्वत्प्राक्क-
र्मापि ऐहिकेन सत्प्रयत्नेन वर्धते अन्यथा क्षीयत इत्य-
र्थः । तस्मात्कारणाच्छास्त्रविहितविवाहादिशुभकाल-
ग्रहशांतिचिकित्सादिसदाचारवतां पुरुषाणां सदा न

हानिः स्यात् । अपि च दैवं किल पुरुषनिष्ठं तद्देशका-
लवशत एव विपच्यते, दुष्टमपि दुष्टान्तरसाहित्येनैव दुष्ट-
कारि, यथा दुर्जनो रंध्रान्वेषणेन । अत एवोक्तं श्रीपतिना
“अकालचर्या मृगया च साहसं सुदूरगानं गजवाजिवा-
हनम् ॥ गृहे परेषां गमनं च वर्जयेद्ब्रह्मेषु राजा विषमस्थि-
तेष्विह” इति । वसन्तराजोपि “नैतदेवमिह येन देहिनां पू-
र्वकर्मविहितं कुतोऽपि हि । देशकालवशतो विपच्यते
युज्यते व्यवहितं कथं तु तत्” इति । एतदेवंप्रमाणं, शेषं
स्पष्टम् । अतश्च दुष्टमपि दैवफलं विवाहादिसत्समयावा-
प्तिरूपयत्नेन निवर्त्यत एवायथाह स एव “सर्पवह्निविष-
कंटकादिकं येन दैवशरणोपि मानवः । दूरतस्त्यजति
पौरुषं सदा तेन न स्फुरति दैवतोऽधिकम् ॥ पौरुषेण
हृदयेप्सितां गतिं प्राप्नुवन्ति पुरुषाः सुमेधसः । यांति
दैवशरणालयं यथा पादयोर्ज्वलति दावपावके” इति ॥
अतः शकुनगोचरादिना आवेदितमशुभं दैवफलं
शुभेन प्रयत्नेन संतो वंचयन्त्येव । तथा च स एवाह-
“तन्निरूप्य शकुनेन दुःखदं वंचयन्ति नियतं समुद्यतम् ।
पौरुषेण पुरुषाः सुमेधसः संश्रयन्ति पुनरात्मनो
हितम्” इति ॥ तदैवफलं दुःखदं समुद्यतं शकुनेन नि-
रूप्य पुरुषाः पौरुषेण वंचयन्तीत्यन्वयः । अथानंतरोक्तेः
सर्पवह्नादिदृष्टान्तः पौरुषमेव फलसाधनं कथं न स्या-
तात् । उच्यते । समानभूमिषु समानसलिलादिसंस्कारेऽ-

पि फलवैचित्र्यदर्शनात्कारणांतरं कल्प्यते । तदेव दै-
वमिति । अत उभययोगे सत्येव फलसिद्धिरिति । अथ
केचित् 'बुद्धिः कर्मानुसारिणी' इति मन्यमानाः प्रयत्नोपि
दैवानुरूप इति कृत्वा दैवमेव फलसिद्धेः कारणमिति
मन्यन्ते । तत्र चतुरस्रम् अनवस्थादोषप्रसंगात् । तथा
हि । प्राक्कर्माजितपौरुषमेव किल दैवमुच्यते । अत्रत्यः
प्रयत्नः प्राचीनपौरुषलक्षणेन दैवेन जन्यः तदपि पौरु-
षं तत्प्राचीनपौरुषजन्यं तदपि तत्प्राचीनपौरुषजन्य-
मित्यनवस्था अतः प्रयत्नोपि दैवप्रेरित इत्युपपन्नम् ।
नैतन्मन्यामहे । न खल्विदमनवस्थादूषणम् । अनादि-
संसारे बीजांकुरन्यायदृष्टान्तसद्भावात् । न चैतद्युक्तम् ।
नहि बीजांकुरन्यायादैवमेव मूलमिति निश्चीयते
नापि प्रयत्नः । अतः सत्युभययोगे फलसिद्धिरिति म-
तं चतुरस्रम् । एवं चेत्तर्हि शौनकोक्तवाक्यानां पूर्वोक्ता-
नां का संगतिः । उच्यते-दैवं तु दृढकर्मरूपमदृष्टक-
र्मरूपं चेति द्विविधम् । तत्र दृढकर्मरूपस्यावश्यं भावि-
त्वाद्वहशांत्यादिरूपेण संपूर्णप्रयत्नेनापि तान्निवारयितुं
न शक्यते । दृढमूलत्वात् । खरतरवाताघातेपि
दृढमूलपादपवत् । अदृढकर्मरूपं तु प्रयत्नेन निवा-
र्यते प्रशिथिलमूलपादपवत् । तथा च जातके । "ये धर्म-
कर्मनिरताः" इत्यादि । प्रयत्नाभावे तु विपच्यत इव ।
तथाच तत्रैव "पापिष्ठा ये दुराचारा देवब्राह्मणनिन्दकाः ।

अपथ्यभोजिनस्तेषामकालमरणं ध्रुवम् ”इति ॥ अत एव चिकित्साशास्त्रेऽपि “पूर्वजन्मकृतं पापं व्याधिरूपेण बाध्यते ” इति ॥ सर्वव्याधीनां साधारण्येन कर्मजन्यत्वेऽपि साध्यासाध्यत्वेन द्वैविध्यमस्ति । तत्रापि—
 “ कृच्छ्रोपायः सुखोपायो द्विविधः साध्य उच्यते । असाध्यो द्विविधो ज्ञेयोऽसाध्यो यश्चाप्रतिक्रियः ॥ साध्योऽसाध्यत्वमायाति साध्यश्चासाध्यतां तथा । ग्रंथि प्राणानसाध्यास्तु नराणामक्रियावताम् ” इत्यादिना अचिकित्सितव्याधेर्दृढकर्ममूलत्वमन्येषामदृढकर्ममूलत्वं निश्चीयते । अतो दैवस्येदृशं द्वैविध्यमस्ति । अतः शौनकादिवाक्यानां पूर्वपक्षराचितानामयमर्थः ॥ येन त्विति । येन पुरुषेण यत्प्राप्तव्यमवश्यं भोक्तव्यं दृढकर्मोपार्जितमिति यावत् । तद्बृहस्पतिरप्यन्यथाकर्तुं न शक्तः । अर्थादन्यददृढकर्मोपार्जितमन्यथाकर्तुं शक्त इत्यर्थः । वरणप्रदानेति । तद्विज्ञानोपायमिति । अत्रायं भावः । यस्य परिणयनादिकाले दुष्टबृहस्पतिचन्द्रादौ दृष्टे सति तदैवपाकस्य तादृशमशुभफलमिति ज्ञातम् । उक्तं च विवाहपटलांति तेनैव “एवं बुद्ध्वा मतिमान् भविष्यफलमादिशेत्समुद्राहे” इति । अतो बौधायनादिविहितेन तच्छांतिरूपेण धर्मेण प्रयत्नात्मकेन तन्निवर्त्यते । “धर्मेण पापमपनुदति” इति श्रुतेः । शुभकालेन तु अशुभदैवफलं निवर्त्यते शुभं तु वर्द्धते । अत एव

तत्रैव तेनैवोक्तं “सुपरीक्षितं विलग्नं धमार्थसुखाय भवति
दंपत्योः । तद्विपरीतं निमेषानागतातीतकालेन ॥
अपरीक्षितं विलग्नं नहि देयं पंडितेन दैवविदा । अय-
शोऽबुनिधौ मज्जति शास्त्रमविज्ञाय यो दद्यात् ” इति ॥
बृहस्पतिरप्याह—“स्वभावादेव कालोऽयं शुभाशुभसम-
न्वितः । अनादिनिधनः सर्वो न निर्दोषो न निर्गुणः ॥
तस्मान्निर्दोषकालार्थं मुहूर्तमधिगच्छताम् ॥ कालः शुभो
गुणैर्युक्तो बलवाद्भिः शुभप्रदः । दोषैर्युक्तोऽपि च प्राणैर्बहु-
भिर्यत्ययं द्वयोः ” इति । अतः शुभकालबलेन पूर्वकर्मो-
पार्जितमशुभमपि निवर्त्यत इति सर्वमनवद्यम् ॥ अतो-
नक्षत्रादीनां कालावयवत्वात्सर्वकर्मसु शुभाशुभफलदा-
तृत्वमस्तीति सिद्धम् ॥ ३ ॥

प्राचेतसः प्राह शुभं भगर्क्षं सीता तदूढा
न सुखं सिषेवे ॥ पुष्यस्तु पुष्यत्यतिका-
ममेव प्रजापतेराप स शापमस्मात् ॥४॥

अथ पूर्वाफलगुनीपुष्यौ कैश्चिदुक्तौ तन्मतनिरासार्थ-
माह । इंद्रवज्रोपेन्द्रवज्रामिश्रणात्मिकोपजातिकेयम् ।
प्राचेतस इति । प्रकृष्टं चेतो यस्यासौ प्रचेताः तस्यापत्यं
प्राचेतसो मुनिविशेषः स भगर्क्षं पूर्वाफलगुनीनक्षत्रं शिवं
शुभमस्मिन्निवाहे यत्प्राह तस्मिन्नक्षत्रे ऊढा परिणीता
सीता सुखं न सिषेवे न सेवितवती । वनवासरक्षोहरणा-
दिकं दुःखमेवाप । अतो गर्गशौनकनारदादिभिर्नोक्त-

मिति कृत्वा तन्नादरणीयमिति भावः । ननु विवाहे भगर्क्षविधायकस्य मुनिवचनस्य कथमयं प्रत्यक्षबाधः । उच्यते—तस्य सीताविवाहात्प्राग्युगविशेषविषयत्वादितियोजनीयम् । पुष्यस्तु अतिकामं पुष्यति वर्द्धयति एवं कारणादस्मिन्विवाहविषये स पुष्यः प्रजापतेर्ब्रह्मणः सकाशाच्छापमाप प्राप्तवान् । पुष्णाति कार्याणीति पुष्यः । क्यबंतो निपातः । ब्रह्मणः किल विवाहः पुष्ये-भूत् । अनंतरं शंभुविवाहसमये पार्वतीसौंदर्यदर्शनात्प्रचलितचेतसो ब्रह्मणः परीहितवस्त्रां तश्च्युतवीर्यस्य हस्तद्वयेन परामृष्टस्य तंतुमध्यास्थितकणसहस्रेभ्यो निष्पन्ना अंगुष्ठप्रमाणाः षष्टिसहस्रमिता बालखिल्यानाममुनयोभूवन्निति ब्रह्मपुराणादौ प्रसिद्धं ततोनुत्तमो ब्रह्मा ज्ञानदृष्ट्या सम्यगवलोक्य पुष्यकृतविवाहानिमित्तमिदमिति कामोद्रेकरूपं वैकृतमिति निश्चित्य विवाहविषये पुष्यं शप्तवानिति कृत्वा गर्गादिभिः स निषिद्ध इति भावः ॥ तथा च शौनकः “ अब्दचतुष्कात्कन्या गुरुकुलविद्वेषिणी भवति पुष्ये । कृपणा पतिसंत्यक्ता वैधव्यं वा समाप्नोति ” इति ॥ अन्येपि ‘ ग्रहेण विद्धोप्यशुभान्वितोपि ’ इति ॥ ४ ॥

प्रावृड्संतोर्जसहःकरग्रहः परैरुदाहारि न
हारि तन्मतम् ॥ रवेरवैसारिणमुत्तरायणं
पुरंध्रिपाणिग्रहणे परायणम् ॥ ५ ॥

अथ विवाहे प्रावृट्कालादिकं कौश्विदुक्तं तन्मतं
निरस्यति—इंद्रवंशावंशस्थमिश्रणात्मिकोपजातिकया ॥
प्रावृट्पूर्वा वसंतः प्रसिद्धः ऊर्जः कार्तिकः सहा मार्ग-
शीर्षः तेषु करग्रहः परैरन्यैर्वात्स्यपराशरादिभिः उदा-
हारि उदाहृतः । तन्मतं हारि न, हरतीति हारि मनोहारि,
न चार्वित्यर्थः । तत्र हेतुमाह—खेरिति । यतो खेरुत्त-
रायणं मकरादिषट्कमवैसारिणं मीनरहितम् ‘मीनो
वैसारिणोण्डजः’ इत्यभिधानात् । पुरंध्रीणां स्त्रीणां
पाणिग्रहणे परायणमतिश्रेष्ठम् । अमीनोत्तरायणस्य
गार्गादिबहुसंमतत्वाद्दक्षिणांतःपातिनां प्रावृडादीनां
ग्रहणमेकदेशीयमतो नादरणीयमिति भावः । तथाच
ज्योतिःसारे “वात्स्यो वर्षमनूनमिच्छति तथा रैभ्योयनं
चोत्तरं स्त्रीनामानमृतुं विहाय मुनयो मांडव्यशिष्या
जगुः ॥ त्रैत्रं प्रोज्झ्य पराशरः परिणये पौषं च दौर्भा-
ग्यदं त्वाषाढादिचतुष्टयं न शुभदं कैश्चित्प्रदिष्टं बुधैः ”
इति स्त्रीनामा ऋतुः प्रावृट् शरच्च। शौनकस्तु वर्णविशेषेण
ऋतुविशेषमाह—“ परिणयकालः शुभदः शरदि वसंते
च विप्राणाम् । राजन्यवैश्ययोरपि शुभदो ग्रीष्मः स-
मुद्दिष्टः ॥ घनसमये शूद्राणां शिशिरे चान्यत्र संकर-
भवानाम् ॥” इति । नारदस्तु “अप्रबुद्धो हृषीकेशो
यावत्तावन्न मंगलम्” इति । शुक्लैकादश्युत्तरं कार्तिकं
मार्गशीर्षं च विधत्ते । अन्येपि “ नाषाढप्रभृतिचतुष्टये

विवाहः' इत्यादिना तौ विदधते । शौनकस्तु तौ निषेध-
ति "कुलटा वै कार्तिके मासि । सौम्ये परवेशमरता कलह-
परा दुःखसंतता" इति ॥ शार्ङ्गवरादिभिस्तु तौ मध्यमा-
वुक्तौ । एवं सति देशाचारतोत्र व्यवस्था ज्ञेया 'देशे देशे
या स्थितिः सैव कार्या' इति वराहोक्तत्वात् । दाक्षिणा-
त्या हि मार्गशीर्षे विवाहं कुर्वन्ति केचिद्भूर्जराः कार्तिके-
पीत्यादि । अतो ग्रंथकृता स्वदेशाभिप्रायेणेदमुक्तमि-
ति सर्वमनवद्यम् ॥ ५ ॥

याम्योत्तराः प्रागपराश्च पंच द्वे द्वे च
रेखे रचयेद्विदिक्षु ॥ विदिग्द्वितीयार्ग-
लिताग्नितारः सहाभिजित्तत्र भवेद्भ-
वर्गः ॥ ६ ॥

अथ नक्षत्रदोषान्विवक्षुर्वेधदोषस्य महादोषांतःपाति-
त्वेन प्राधान्यात्तमुपजातिकाद्वयेन तावदाह ॥ याम्यो-
त्तराः प्रागपराश्च पंच रेखा रचयेत् । विदिक्षु कोणेषु द्वे द्वे
रेखे रचयेत् । इदं पंचशलाकाख्यचक्रं, तत्र चक्रे सहा-
भिजिद्विदिग्द्वितीयार्गलिताग्नितारः भवर्गः भवेत् ।
अभिजिता सह वर्ततेऽसौ सहाभिजित् "तेन सहेति तु-
ल्ययोगे" इति बहुव्रीहिः । तत्र सहस्य सादेशस्य वैकल्पि-
कत्वम्, विदिशि द्वितीया या रेखा तयार्गलिता संबद्धा
अग्नितारा कृत्तिका यस्य स तथा । कोणस्थाद्वितीयरे-

खातः कृत्तिकादीनि साभिजिन्ति नक्षत्राणि सव्येन मार्गेण अपसव्येन वा न्यसेदित्यर्थः । अपसव्यमार्गस्य शिष्टगर्हितत्वात्सव्यमार्गोत्र श्रेयान् ॥ ६ ॥

तस्मिन्नभिन्नाग्रगतं भिनत्ति ग्रहो वि-
वाहर्क्षमशेषमेव ॥ स्त्रीपुंसयोरायुरसौ-
म्यवेधः सौम्यव्यधो हन्ति सुखानि
शश्वत् ॥ ७ ॥

तस्मिन्श्चक्रे अभिन्नाग्रगतं विवाहर्क्षमशेषं समस्तमेव ग्रहो भिनत्ति । यस्यां रेखायां ग्रहस्तदग्रस्थनक्षत्रं वेध-
यतीत्यर्थः । विवाहग्रहणं विवाहकृत्योपलक्षणम् ।
यथाह श्रीपतिः “ वधूप्रवेशे दाने च वरणे पाणिपी-
डने । वेधः पंचशालाकाख्येन्यत्र सप्तशलाकके ॥ ”
इति अशेषग्रहणं चरणवेधानिरासार्थं तद्विषयं वक्ष्य-
ति । वेधफलमाह स्त्रीपुंसयोरिति-असौम्यवेधः पापग्र-
हवेधः स्त्रीपुंसयोरायुर्हन्ति स्त्री च पुमांश्च स्त्रीपुंसौ । अच-
तुरादित्वात्साधुः । सौम्यव्यधः सौम्यग्रहवेधः शश्वद-
नवरतं सुखानि हन्ति ॥ ७ ॥

वैश्वदैवतचतुर्लवः श्रवः पंचभूलव इहा-
भिजिन्मितिः ॥ अन्यतः परिणयादयं-
व्यधः सप्तरेखवलये विलोक्यते ॥ ८ ॥

अत्र सहाभिजिदित्युक्तम् । अतोभिजित्प्रमाणं
तथा विवाहकृत्यादन्यत्र सप्तरेखाचक्रे वेध इत्याह

रथोद्धता । वैश्वदैवतेति । वैश्वदेवतमुत्तराषाढा तस्य
चतुर्लवश्चतुर्थांशः अंतिमः, श्रवः श्रवणस्तस्य पंच
भूलवः पंचदशांश आदिमः इयमिह वेधादिविषये
अभिजिन्मितिः स्यात् । अयमनंतरोक्तो व्यधो वेधः
विवाहात्कन्यावरणादिविवाहकृत्यादन्यतः अन्यत्र
सर्वत्र व्रतबंधवास्तुयात्रादिषु सतरेखवलये सतरे-
खचक्रे विलोक्यते । तथा च श्रीपतिः ‘ वधूप्रवेशे दाने
च ’ इत्यादि । अत्र विवाहपटले अन्यकृत्योपयो-
गिवेधनिरूपणाद्वेधादयः सर्वे वक्ष्यमाणा दोषाः साधा-
रण्येन सर्वशुभकृत्येषु ज्ञातव्या इति सूचितम् । तथा च
वक्ष्यति “तदखिलेपि खलं शुभकर्मणि ” इति ॥ ८ ॥

स किल वेधविधिर्द्वितृतीययोश्चरणयो-
र्मिथआदिचतुर्थयोः ॥ अशुभविद्धमशो-
पमुडुत्यजेच्चरणगं शुभवेधमसंपदि ॥९॥

अथ पादवेधं तद्विषयं चाह । द्रुतविलंबितम् । सोनं-
तरोक्तो वेधविधिर्द्वितृतीययोश्चरणयोस्तथा आदिचतु-
र्थयोश्चरणयोर्मिथः परस्परं स्यात् । द्वौ च त्रयश्च तेषां
पूरणौ द्वितृतीयौ तयोर्द्वितीयतृतीययोरित्यर्थः । आ-
दिश्च चत्वारश्च आदिचत्वारः तेषां पूरणौ आदि-
मचतुर्थयोरित्यर्थः । प्रथमचरणस्थिते ग्रहे विद्धनक्ष-
त्रस्य चतुर्थचरणो विद्धश्चतुर्थस्थे प्रथम इत्यर्थः । एवं-

द्वितीयतृतीयावपि । किलेति प्रसिद्धार्थे । न्यासक्रमेण प्रथमादिचरणस्थिते ग्रहे तद्रेखाग्रनक्षत्रचतुर्थतृतीयप्रथमाश्वरणाः क्रमेण विद्धाः स्युरिति प्रसिद्धम् । पादवेधविषयमाह । अशुभेति । अशुभविद्धं पापग्रहविद्धमुडुनक्षत्रमशेषं समस्तं त्यजेत् । शुभस्य शुभग्रहस्य वेधं चरणस्थितमसंपदि असंपत्तौ अन्यनक्षत्रालाभे सति त्यजेत् । अर्थादन्यनक्षत्रसंभवे सति शुभविद्धमपि नक्षत्रमशेषमेव त्यजेदिति । तथा च श्रीपतिः “ऋक्षं सौम्यग्रहैर्विद्धं पादमात्रं परित्यजेत् । क्रूरैस्तु सकलं त्याज्यमिति वेधविनिश्चयः” इति । यत्तु “क्रूरैरपित्यजेत्पादं केचिदूचुर्मनीषिणः” इति केषांचिन्मतं तन्नारदादिहुमतविरोधान्नादरणीयमिति भावः ॥ ९ ॥

यदशुभैर्गतगम्यमाधिष्ठितं यदपि च त्रिविधाद्भुतदूषितम् ॥ तरणितारकतोपि चतुर्दशं तदखिलेपि खलं शुभकर्माणि ॥ १० ॥

एवं वेधदोषं निरूप्य दोषांतराण्याह । द्रुतविलंबितम् ॥ सदिति यन्नक्षत्रमशुभैः पापग्रहैर्गतगम्यमाधिष्ठितं च अशुभश्च अशुभौ च अशुभाश्च अशुभाः । द्वंद्वैकशेषः एकेन अशुभेन द्वाभ्यां त्रिभिर्वा गतं भुक्तं गम्यं भोग्यमाधिष्ठितं युक्तम् । यदपि च नक्षत्रं त्रिविधेर्भौमांतरिक्षैरद्भुतैः दूषितम् । दिव्याद्भुतानि ग्रहर्क्षजनितानि प्रत्यर्कादीनि, भौमानि, भूकंपादीनि आंतरि-

क्षाणि उल्कादीनि एषामन्यतममद्भुतं यस्मिन्दिननक्ष-
त्रे जातं यदपि च तरणितारकतः सूर्याधिष्ठितनक्षत्रा-
च्चतुर्दशं संध्योदितमित्यर्थः । तरणेस्तारकं नक्षत्रं तर-
णितारकम् “ कनीनिकायां नक्षत्रे तारकं तारकेति च ”
इति विश्वः । कनीनिकां नेत्रतारा तन्नक्षत्रमखिलेपि
शुभकर्मणि विवाहव्रतबंधयात्रादौ खलं पापं स्यादिति
प्रत्येकं संबध्यते ॥ १० ॥

रविनखैर्मितमर्कविधुंतुदौ मुनिभिरिंदुर-
खंडलमंडलः ॥ हुतवहाकृतिषड्जिनदं-
तिभिः क्षितिसुतादभिलत्तयतिग्रहः ॥ ११ ॥

अथ लत्तादोषमाह । हुतविलंबितम् । अर्कः सूर्यः
विधुं तुदति व्यथयतीति विधुंतुदो राहुः तौ रविनखैर्मि-
तं स्वाधिष्ठितनक्षत्रात्क्रमेण द्वादशविंशतितममभिसं-
मुखं लत्तयतः । खंडमेव खंडलं “ खंडलं भागश्छेदश्च ”
इति क्षीरस्वामी । न खंडलमखंडलं तन्मंडलं यस्यासौ
तथा संपूर्णमण्डलश्चंद्रः मुनिभिः सप्तभिर्मितमभिल-
त्तयति । एतदुक्तं भवति—संपूर्णमंडलश्चंद्रः किल
पूर्णिमांते भवति तत्र यन्नक्षत्रं तस्मात्सप्तमचंद्रोऽ-
भिलत्तयति । तच्च कृष्णषष्ठ्यासन्नं सदा स्यादिति ।
हुतवहास्त्रयः आकृतिर्द्वाविंशतिः षट्प्रसिद्धाः जिना-
श्चतुर्विंशतिः दन्तिनोष्टौ तैस्तुल्यं नक्षत्रं स्वाधिष्ठितन-

क्षत्रात्क्रमेण क्षितिसुताद्भौममारभ्य ग्रहः अभिसंमुखं
लत्तयति । भौमादयः क्रमेण ज्यादीनि लत्तयन्तीत्यर्थः ।
अत्र सर्वेषां संमुखलत्तनमेवोक्तम् ॥ ११ ॥

इति सति द्युसदामभिलत्तने यदनु-
लत्तनमुक्तमृषिव्रजैः ॥ तदुदुपश्चिम-
पूर्वविभागयोरनधिकाधिकदोषवि-
वक्षया ॥ १२ ॥

पूर्वेस्तु चतुर्णां पृष्ठलत्तनं चतुर्णामभिलत्तनं कथमु-
क्तम् । तत्र हेतुमाह ॥ द्रुतविलंबितम् । इतीति । इत्ये-
वंविधे द्युसदां ग्रहाणामभिलत्तने संमुखलत्तने सति यद-
नुलत्तनमृषिव्रजैर्मुनिसंघैरुक्तम् । ऋजुमार्गेण सिद्ध्यतो-
र्थस्य वक्रेण साधनायोगादिति न्याये सत्यपि त-
दुदुपश्चिमपूर्वविभागयोर्नक्षत्रोत्तरपूर्वार्धयोन्यूननाधिकदो-
षविवक्षया हेतुना उक्तम् ॥ एतदुक्तं भवति--ग्रह-
नक्षत्राणि प्राङ्मुखानि सन्ति तत्र पुरः प्रेरिता लत्ता-
अग्रस्थस्य पृष्ठे लगति पश्चात्प्रेरिता अग्रभागे । अतः
अग्रलत्तया लातितनक्षत्रस्य पूर्वार्धे अधिकदोषः उत्त-
रार्धे न्यूनः । पृष्ठलत्तया तु पूर्वार्धे अल्पः । उत्तरार्धे अ-
धिकः स्यादिति । अनेन हेतुना पृष्ठलत्तनं महर्षिभिरु-
क्तमित्यर्थः । ग्रन्थकृता तु लत्तितनक्षत्रस्य अखिलस्या-
पि निषिद्धत्वाद्भिलत्तनमेवोक्तम् ॥ १२ ॥

उडुनि निर्दलिते शुभलत्तया न फल-
मस्ति बलस्य गलत्तया ॥ अशुभल-
त्तितमत्ति तदूढयोर्धनसुतानसुतापक-
रं परम् ॥ १३ ॥

अथ लत्तायाः फलमाह । द्रुतविलंबितम् । उडुनि न-
क्षत्रे शुभग्रहलत्तया निर्दलिते सति तस्य नक्षत्रस्य
यद्विहितं शुभफलं तत्रास्ति । कया हेतुभूतया बलस्य
गलत्तया गलतीति गलत्तस्य भावो गलत्ता तया नि-
र्बलत्वेनेत्यर्थः । अशुभग्रहेण लत्तितं यद्गं नक्षत्रं तत्र
उडयोः परिणीतयोर्दपत्योः परमत्यर्थमसुतापकरं
प्राणतापदं सत् धनसुतानत्ति खादयति, अशुभलत्ति-
तनक्षत्रे उद्वाहितयोः प्राणतापो धनसुताश्च नश्यंती-
त्यर्थः ॥ १३ ॥

विद्धा त्रयोदशभिरूर्ध्वगतैकरेखा स्वार्जु-
रिकं तदिह शीर्षमतो भचक्रे ॥ न्यस्ते-
सहाभिजिति तारकराजभान्वोस्तुल्य-
र्क्षगम्यगतयोर्नयनार्गलेयम् ॥ १४ ॥

अथैकार्गलदोषमाह । वसंततिलका । ऊर्ध्वगता एका
रेखा तिर्यक् स्थिताभिस्त्रयोदशरेखाभिर्विद्धासती स्वार्जु-
रिकं नाम चक्रं स्यात् । इहास्मिंश्चक्रे वक्ष्यमाणशीर्ष-
नक्षत्रमारभ्य सहाभिजिति भचक्रे न्यस्ते सति सह अ-

भिजिता वर्तमानं तत्तथा । बहुव्रीहिः प्राग्वत् । तारकरा-
जभान्वोश्चंद्रसूर्ययोः 'कनीनिकायां नक्षत्रे तारकं तारके-
ति च' इति विश्वः । तारकाणां राजा तारकराजः । यद्वा-
“ङ्यापोःसंज्ञाच्छन्दसोर्बहुलम्” इति द्वस्वः । स्व-
नक्षत्रस्थितयोश्चंद्रार्कयोरेकरेखागतयोरियं नयनार्ग-
ला स्यात् । परस्परदृष्टिपातलक्षण एकार्गलः स्यादि-
त्यर्थः । कथंभूतयोः तुल्यक्षगम्यगतयोः ऋक्षयोर्गम्यगते
ऋक्षगम्यगते तुल्ये ऋक्षगम्यते ययोस्तौ तथा । एक-
तरस्य यावति नक्षत्रगते तावति अन्यस्य गम्ये सती-
त्यर्थः । अनेन पादवेधः सूचितः । तद्यथा—प्रथमचतुर्थ-
चरणयोरन्योन्यं किल वेधः तत्रैकतरस्य प्रथमचरण-
स्थस्य पादमात्रं गतमन्यस्य चतुर्थचरणस्य पादमात्रं
गम्यं स्यात् । एवं द्वितीयतृतीयोरपि । तथाच नारदेन
महादोषेषु पठितम् “खार्नूरिकसमांघ्रिभम्” इति ॥ १४ ॥

शीर्षभं भवति रूपसंयुता दुष्टयोगमिति-
रर्धिता सती ॥ शोषिणी यदि चसार्द्धवि-
श्वयुङ्मङ्गलं गलति सार्गले विधौ ॥ १५ ॥

अत्र शीर्षमतो न्यास उक्तस्तच्छीर्षभं तथैकार्गलं
फलं चाह । रथोद्धता । दुष्टयोगे सति तस्य दुष्टयोगस्य
मितिः रूपसंयुता अर्धिता सती शीर्षभं भवति । शेष-
मस्याः सा शोषिणी यदि सा शोषिणी भवति तदा

सार्धविश्व १३।३० युक्छीर्षभं स्यात् । दुष्टयोगाः व्याघा-
तशूलपरिघव्यतिपातविष्कंभगंडातिगंडवज्रवैधृताः तत्र
व्याघातसंख्या १३ रूपसंयुता १४ अर्धिता जातं ७
शीर्षभम् । एवं शूलादिषु । तथा गंडो दुष्टयोगस्तस्य
संख्या १० रूपसंयुता ११ अर्धिता ५।३० इयं शेषिणी
जाता अतः सार्धत्रयोदशयुता १९ जातं शीर्षभं मूलः
एवमतिगंडेपि १७ मंगलमिति । सार्गले विधौ सति
मंगलं गलति । अर्गलया वर्तमानः सार्गलः एकार्गल-
स्तयोश्चंद्रार्कयोः सतोर्मंगलं नश्यतीत्यर्थः ॥ १५ ॥

त्यक्त्वा गतैष्यस्य परे तु हेतुमुज्झंति

नक्षत्रमशेषमेव ॥ एकार्गलस्यैव हि सा

च भंगी संध्यागतं यद्गलहस्तयंति ॥ १६ ॥

अत्रैकार्गलविषये परमतमाह। इंद्रवज्रा। त्यक्त्विति। परे
श्रीपत्यादयस्तुल्यक्षगम्यगतथोरिति । मंगलैष्यस्य हेतुं
त्यक्त्वा एकार्गलविद्धनक्षत्रमशेषमेवोज्झंति । त्यजंति
तेषामयमाशयः । हि यस्मात्कारणात्संध्यागतं संध्यो-
दितं नक्षत्रं सर्वमेव गलहस्तयंति परिवर्जयंति । सैव भंगी
रचना युक्तिः । एकार्गलस्य गले हस्तेन नोदयंतीति
गलहस्तयंति । कल्यादित्वाणिच । यद्गलहस्तयंति रवि-
णा पादविद्धमपि सर्वमेव त्यज्यते तद्देकार्गलस्तमपी-
त्यर्थः । “ तिष्यपुनर्वस्वोर्नक्षत्रद्वंद्वे ” इत्यत्र इतरेतरयो-
गेपि पृथक्त्वज्ञापकात्सर्वोपि द्वंद्वो विभाषया एकवत्स्या-
त् । अतो गतैष्यस्येत्येकत्वम् ॥ १६॥

ऋरस्यभार्धांतरमृक्षमेवमनिष्टमित्येष
विशेषवादः ॥ पापाच्चतुःपंचलवेषु चांद्रं
जामित्रमंस्मात्खलु पर्यणंसीत् ॥ १७ ॥

अथ कैश्चित्ऋषड्भांतरितमृक्षमनिष्टमिति विशेषितं
तच्चांद्रजामित्रे परिणतमित्याह । उपजातिका । भार्ध-
मंतरं यस्य तत्तथा ऋरस्य षड्भांतरमृक्षमनिष्टमव-
मिति एष केषांचिद्विशेषवादः विशेषोक्तिः । असौ
यस्मात्पापाद्भार्धांतरमृक्षमस्मात्पापाच्चतुःपंचलवेषु च-
तुःपंचाशदंशेषु चांद्रं जामित्रं पर्यणंसीत् परिण-
मति स्म । चंद्रजामित्रेण परिणतः, नक्षत्रं हि चंद्रनिष्ठं
प्रतिराशौ नवनवमांशाः तस्माद्भार्धांतरे स्थितः ऋर-
श्चंद्राच्चतुःपंचाशदंश एव भवति । अतः परिणामे चांद्र-
जामित्रमेवेदमिति कृत्वा नायं विशेष इति भावः ।
“यमिरामिनमातांसक्च” इति ईट् सगागमश्च ॥ १७ ॥

क्षतादृते दिग्धशरार्दितस्य शस्तं मृग-
स्यामिषमेव मन्ये ॥ ऋरांघ्रिवेधाय पदं
वदन्ति तेनैव तेषां निजपक्षहानिः ॥ १८ ॥

अथ कैश्चित्पादवेधे युक्तिरुक्ता तामनूद्य दूषयति ।
उपजातिका । विषादिना दिग्धेन परामृष्टेन शरेण
अर्दितस्य विद्धस्य मृगस्य आमिषं मांसं क्षतादन्यत्र
शस्तं तद्वद्यत्र पादे वेधः स एव पादोऽशुभ इति । एव-

मन्ये केचित्कूरांघ्रिवेधाय पदं विषयं वदन्ति तेनैव पदे-
न तेषां स्वपक्षहानिः स्यात् ॥ १८ ॥

विश्लेषमायाति यथासुभिः स्वैरेणः शरे-
णैकदिशि क्षतोपि ॥ तथांघ्रिवेधादपि
तारकाणां क्रूरस्य नश्येद्वलरूप-
संपत् ॥ १९ ॥

एतदेव स्पष्टं वक्ति। उपजातिका। यथैकदिशि एकस्मि-
न्प्रवेशे शरेणाक्षतो विद्धोपि एणः मृगः स्वैः असुभिः
प्राणैर्विश्लेषं वियोगमायाति प्राणवियोगं प्राप्नोतीत्यर्थः ।
तथा क्रूरस्यांघ्रिवेधात्तारकाणां बलरूपयोः संपन्नश्येत् ।
एतदुक्तं भवति यथा विषप्रदिग्धशरेण विद्धमृगस्य
मांसं क्षतव्यतिरिक्तं शस्तं तद्वद्यस्मिन्पादे पापवेधः स
एव दुष्ट इत्यन्ये वदन्ति तदयुक्तम् । यद्यपि विद्धमृगस्य
क्षतव्यतिरिक्तं मांसं शस्तं तथापि तस्य मृगस्य गता-
सुत्वमापन्नस्य बलरूपसंपन्नष्टा एवं तस्य पापवेधनक्षत्र-
स्यापि । एवं गलेपादुकान्यायेन तेषां स्वपक्षस्थापक-
पदेनैव स्वहानिरिति । अतो यदुक्तम् “ अशुभविद्धम-
शेषमुद्धु त्यजेत् ” इति तत्सम्यक् ॥ १९ ॥

यदंतगं हर्षणसाध्यशूलगंडव्यतीपा-
तकवैधृतानाम् ॥ तत्रैव चंद्रोडुनि
चंडमैशमस्रं पतेन्मंगलभंगलक्ष्म ॥ २० ॥

अथ चंडायुधदोषमाह । उपजातिका । हर्षणादीनां
षण्णां योगानामवसानस्थं यन्नक्षत्रं तस्मिन्नेव नक्षत्रे ऐश-
मीशस्येदमैशं चंडमुग्रमस्त्रं पतेत् चंडीशचंडास्त्रपातः
स्यादित्यर्थः । तत्फलमाह—मंगलेति । मंगलानां भंग-
स्तदेव लक्ष्म यस्य तत्तथा मंगलभंजकमित्यर्थः ॥ २० ॥

मंशुविवव्यातिषु षट्शरत्रित्रिनन्दपट्टका व-
टिकाः क्रमेण ॥ द्वयंशं त्यजेत्पारिधमिंदु-
भान्वोः पर्वण्यतीते दिनसप्तकं च ॥ २१ ॥

अथ चंडायुधसंभवार्थं योगनिर्देशात्तत्साहचर्येण दुष्ट-
योगानां वर्ज्याविभागांस्तत्प्रसंगेन ग्रहणदुष्टकालं चाह ।
उपजातिका । गं गंडः शु शूलः वि विष्कंभः व वज्रः
व्या व्याघातः अति अतिगंडः एतेषु योगेषु तेषामादि-
माः क्रमेण षट्शरत्रित्रिनन्दपट्टकाः ६ । ५ । ३ । ३ ।
९ । ६ वटिकास्त्यजेत् । अत्राद्यक्षरग्रहणेनैव नामग्रह-
म् । यथा बृहज्जातके “ शकुबुगुशुचराद्या वृद्धितो
वीर्यवंतः ” इति । पारिधस्येदं पारिधमादिमं व्यंशमर्द्धं
त्यजेत् । कुत्रचिद्व्यंशमिति पाठः । स तु बहुवाक्यविरो-
धान्नादरणीयः । इंदुभान्वोः पर्वण्यतीते सति चंद्रार्क-
ग्रहणानंतरं दिनसप्तकं त्यजेत् ॥ २१ ॥

यस्मिन्वृक्षे वीक्ष्यते सैहिकेयो भेदस्ताराखे-
टयोर्यत्र वा स्यात् ॥ आषण्मासं तत्र

लग्नेदुभाजि भ्राजिष्णु स्यान्नो शुभं कर्म
किञ्चित् ॥ २२ ॥

अथ ग्रहणादिसंवाधिनक्षत्रदोषमाह।शालिनी।यस्मि-
नक्षत्रे नक्षत्रे सैहिकेयो राहुर्दृश्यते ग्रहणं भवेदित्यर्थः ।
ग्रहणं सर्वोत्पातानामुपलक्षणम् । यदपि च त्रिविधोद्धूत-
दोषितमित्युक्तत्वात् । वा इत्यथवा । तारखेटयोर्भौमा-
दिष्वन्यतमखेटयोर्भेदयोगः स्यात्तत्र नक्षत्रे आषण्मासं
षण्मासपर्यंतं लग्नेदुभाजि लग्नेदू भजतीति लग्नेदुभाक्त-
स्मिँल्लग्नैदुभाजि लग्नस्थे चंद्रे वा सतीत्यर्थः । किञ्चि-
च्छुभं कर्म भ्राजिष्णु, भ्राजते तद्भ्राजिष्णु शोभमानं न
स्यात् । तद्यथा-अश्विन्यां ग्रहणे जाते सत्र्यंशत्रयोद-
शभागांतः मेषलग्ने सति अश्विनीलग्नस्थं स्यात् । एवं
भरण्यादिष्वपि चंद्रस्थनक्षत्रमिति प्रसिद्धम् । उक्तं च
व्यवहारतत्त्वे “ उत्पातैस्त्रिविधैर्हतं ग्रहणं चामासषट्कं
तथा” इति ॥ २२ ॥

उत्पातपापग्रहमुक्तमृक्षं यदीदुराक्रम्य पुन-
र्भुनक्ति ॥ तदा तदहं सकलेषु कर्मसु त्यजे-
त्समक्रावितनू रवींदोः ॥ २३ ॥

अथोत्पातादिदोषमुक्तनक्षत्रस्य शुद्धिमाह । उपजा-
तिका । उत्पातान्निविधाः पापग्रहा रविभौमादयस्तै-
र्मुक्तं तदुत्पन्नदोषैस्त्यक्तं यन्नक्षत्रं तत्तदा एषु सकलेषु

शुभेषु कर्मसु अहं योग्यं स्यात्तदा कदा यदि इन्दुः
आक्रम्य पुनर्भुनक्ति दोषत्यागानंतरं चंद्रभोगे जाते
सति द्वितीयचंद्रभोगे शुद्धं भवतीत्यर्थः । अथै-
तत्प्रसंगेन पातदोषमाह—त्यजेदिति । रवीन्द्रोः समक्रांति-
तनू सकले शुभकर्मसु त्यजेत् । क्रांत्योस्तनू स्वरूपे
समे च ते क्रांतितनू च समक्रांतितनू चंद्रार्कयोर्लवाद्ये
क्रांती यावत्समे तावदित्यर्थः ॥ २३ ॥

त्रिभागशेषे ध्रुवनाम्नि चैन्द्रे त्र्यंशे गते संप्र-
ति संभवोऽस्य ॥ मानार्धयोगाधिकमिन्दुभा-
न्वोः क्रांत्यंतरं चेन्न तदेष दोषः ॥ २४ ॥

अथ तत्संभवकालमाह । उपजातिका । ध्रुवनामा
द्वादशो योगस्तस्मिन्त्रिभागशेषे तृतीयांशावशिष्टे सति
ऐन्द्रे षड्विंशे योगे त्र्यंशे गते च सति । चकारो वार्थे ।
अस्य क्रांतिसाम्यलक्षणस्य संप्रतीदानीं संभवः स्यात् ।
तदासन्ने काले भवेदित्यर्थः । ध्रुवे व्यतीपाताख्यः
ऐन्द्रे वैधृताख्य इति ग्रंथनिर्माणकाले द्वादश अयनांशा
आसन् तदभिप्रायेणेदमुक्तं ततो यथा यथा अयनां-
शा अधिकास्तथा तथा तयोर्योगयोन्यूनता चिंत्या ।
तदानयनं श्रीगुरुणा केशवेनोक्तं—“त्रिघ्रायनांशा नख-
भाजितास्तद्धीनाश्च सार्धत्रिभुवोद्रिपक्षाः । तत्तुल्ययुत्यो-
र्गतयोर्विलोक्यः पातो व्यतीपातकवैधृताख्यः ॥” इति ।

चेदिंदुभान्वोः क्रांत्यंतरमानार्धयोगाधिकं तदा एष
दोषो न स्यात् । चंद्रार्कयोः क्रांत्यंतरं यावन्मानैक्या-
र्धान्मूनं तावेदेव चायं दोष इत्यर्थः । तदानयनं ग्रंथ-
कृता करणकंठीरवे प्रतिपादितं दिङ्मात्रमत्रोक्तम् ॥ २४ ॥

स्फुरददूषणभूषणकान्तयो यदि भवंति मृ-
गांकमृगीदृशः ॥ करमवाप्य वरः सुतनो-
स्तदा शुभरसं भरसंभृतमश्नुते ॥ २५ ॥

इति विवाहवृन्दावने नक्षत्रशुद्धिर्नाम
प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

अथ नक्षत्रशुद्धेः प्राशस्त्यमाह । द्रुतविलंबितम् । मृगां-
कस्य मृगीदृक् तस्या मृगांकमृगीदृशः चंद्रनक्षत्रस्य
यदि स्फुरददूषणभूषणकान्तयः स्युः । अदूषणं पापवे-
धादिराहित्यं भूषणं शुभदृष्ट्यादिकं कान्ति प्रकाशः
अक्षीणत्वादि । स्फुर स्फूर्तौ । स्फुरन्ति ताः स्फुरन्त्यः परि-
पूर्णाः ताश्च ता अदूषणभूषणकान्तयश्च तास्तथा तदा
सुतनोर्वध्वाः करमवाप्य करग्रहणं कृत्वा वरः भरेण संभृ-
तं परिपूर्णं शुभरसं शुभं भोगमश्नुते प्राप्नोति । दोषरहित-
नक्षत्रे पाणिग्रहकृद्भरः अतिशुभं प्राप्नोतीत्यर्थः ॥ २५ ॥

इति श्रीसकलागमाचार्यवर्यश्रीकेशवसांवत्सरात्म-
जगणेशविरचितायां विवाहवृन्दावनटीकायां विवाहदी-
पिकायां नक्षत्रशुद्धिप्रकरणवर्णनं नाम प्रथमोऽध्यायः १ ॥

अथ कालमीमांसाध्यायः ॥

जन्मलग्नमिदमंगमंगिनां मेनिरे मन इती-
न्दुमन्दिरम् ॥ सौहृदं हि मनसोर्न देहयोर्मे-
लकस्तदयामिदुगेहयोः ॥ १ ॥

अथ कालमीमांसाध्यायो व्याख्यायते—नक्षत्रशुद्धे-
मुख्यत्वादादौ तामभिधायेदानीं राशिघटितं विवक्षुस्त-
त्प्रसंगेन तावत्कालमीमांसा निरूप्यते । तत्रादौ जन्म-
राश्योरेव घटितावलोकने बुक्तिमाह । रथोद्धता । अंग-
मस्तीत्येषामंगिमः तेषां शरीरिणामिदं प्रसिद्धं जन्मल-
ग्नमंगं शरीरं पूर्वमुनयो मेनिरे मन्यन्ते स्म । इन्दुमन्दिरं
चन्द्रगृहं जन्मनि यश्चन्द्रराशिः स मन इति मेनिरे । तथा
चाहुः शौनकादयः—“शारीरं लग्नवशात्सुखदुःखं मानसं
शशांकवशात्” इति । हि यस्मात्कारणात्सौहृदं मित्रत्वं
मनसोरेव न तु देहयोः, नकुलसर्पयोरपि सौम-
नस्येऽसति सहवासित्वादर्शनात् । तस्मात्कारणादयं
मेलकः इन्दुगेहयोश्चन्द्रराश्योरेव स्यात् । जन्मराश्योरेव
घटितयोगो न तु जन्मलग्नयोरिति । सुष्ठु हृदयं यस्य
सुष्ठु च तद्धृदयं चेति? वा तस्य भावः सौहृदम् । भावे
अणुहृदयस्य हृदादेशः, पूर्वपदादेर्वृद्धिः । यद्वा-सुष्ठु हृदयं
यस्यासौ सुहृत् “सुहृदुर्हृदौ मित्रामित्रयोः” इति निपातः ।
सुष्ठु च तद्धृत्वेति वा ? तस्य भावस्तथा । ननु “हृद्-
गसिध्वन्ते पूर्वपदस्य च” इति पूर्वोत्तरपदाद्योर्वृद्ध्या

सौहार्दमित्येव स्यात् । “महते सौभगाय”
 इत्यादयः प्रयोगाश्छन्दस्येव तत्र सर्वविधीनां विकल्प-
 विधानादिति प्रसादकारादयः । यत्तु श्रीभागवते—“न तत्र
 सौहृदं धर्मः संतोषो भूतसौहृदम्” इत्यादिषु दृश्यते ।
 तदपि संदिग्धं, पुराणानामपि च्छांदसत्वात् । विशेषेण
 श्रीभागवतस्य । अतो भाषायां सौहृदमिति प्रयोगः
 कथं युज्यते । यतो ग्रंथकृता प्रयुक्तस्ततः कथं-
 चिद्वृत्तिमात्रं चिंत्यते—“ओर्गुणः” इत्यनेन संज्ञापूर्व-
 कनित्यत्वस्य ज्ञापितत्वात् उभयपदवृद्धेरनित्यत्व-
 मिति । एवं ‘वसुभे चलसौहृदयस्त्रियो द्वेष्ट्या’ इति वराहो
 क्तमपि वेदितव्यम् ॥ १ ॥

चंद्रराशिवशमेव सौहृदं सूक्ष्मयोरपि न किं
 नवांशयोः ॥ एवमस्तु मकरांशगे विधौ
 कर्कटेऽपि किमु नोत्तरायणम् ॥ २ ॥

ननु चंद्रराशयोर्मेलकस्तर्हि तत्रवांशयोरपि कथन्न
 मेलक इत्याह । रथोद्धता । सौहृदं मित्रत्वं चंद्रराशि-
 वशं चंद्रराश्यधीनमेवेति यदुक्तं तत्सूक्ष्मयोर्नवांशयो-
 रपि कथं न स्यात् । जन्मानि यद्राशौ चंद्रः स जन्मरा-
 शिरित्युच्यते तयोश्चेन्मेलको विलोक्यते तर्हि तदंत-
 रगतयोः सूक्ष्मयोश्चंद्रनवांशयोरपि कथं न मेलक इ-
 त्याक्षेपः । अपि समुच्चये । अत्रोत्तरम् । एवमस्त्विति ।
 चेदित्यध्याहारः । एवं चेदस्तु भवतु तर्हि कर्कटे

कर्कटराशिस्थे विधौ मकरांशगे मकरनवांशस्थिते
सति उत्तरायणं न स्यात् । अयनं हि राशिवशादेव न
तु नवांशवशादिति प्रसिद्धम् । अतो राश्योरेव मेलक
इति ॥ २ ॥

मासषट्कमयनं च दक्षिणादित्य एति तदिति
श्रुतिर्जगौ ॥ मूलसंक्रमसमां विवस्वतः
स्वस्वभंगिमृतवोऽपि बिभ्रति ॥ ३ ॥

अथ राशिवशादेवायनमित्यत्र प्रमाणमाह—यस्मा-
त्कारणान्मासषट्कं षण्मासपर्यन्तं दक्षिणादक्षिणस्यांदिशि
“दक्षिणादाच्च” “तद्धितश्चासर्वविभक्तिः” इत्यव्ययम्,
आदित्यः सूर्यः एति गच्छति तत्तस्मात्कारणादिति
एवंविधमयनं श्रुतिर्जगौ जगाद । यस्मात्कारणात्सूर्यो
मासषट्कं दक्षिणां दिशं गच्छति तस्मात्तत्प्रमाणमयनं
श्रुतिर्जगादेत्यर्थः । एवं सयुक्तिकमागमप्रमाणमुक्त्वा
प्रमाणांतरमाह—मूलसंक्रमेति । नवांशापेक्षया मूलराशि-
विवस्वतः सूर्यस्य मूलसंक्रमो राशिसंक्रांतिः तत्समां
तत्सदृशीम् ऋतवो वसन्तादयोऽपि स्वस्वभंगिं स्वीयस्वी-
यरचनां चिह्नमिति यावत् । बिभ्रति धारयन्ति । वसन्ते
पुष्पोद्गमादि ग्रीष्मे निदाघादि इत्यादीनि यान्यृतुचि-
ह्नानि तानि रविराशिसंक्रमवशेषु तत्तद्वस्तुषु प्रत्यक्षं
दृश्यन्ते अतो राशिवशादेव मेलक इति सिद्धम् ॥ ३ ॥

किं दिनर्क्षविरहे करग्रहो नेष्यते तदुदयक्ष-
णेष्वपि ॥ स्थूलमेवमखिलं जगत्फलं तद्वि-
शेषयति सूक्ष्मतागतिः ॥ ४ ॥ .

अथ युक्त्यन्तरमाह । रथोद्धता । दिनर्क्षस्य दिवसन-
क्षत्रस्य विरहे वियोगे सति करग्रहनक्षत्रालाभे सती-
त्यर्थः । तस्य करग्रहनक्षत्रस्य उदयक्षणेऽपि मुहूर्तेष्व-
पि करग्रहः किञ्चिन्नेष्यते । “धिष्ण्ये तस्मिन्स्तस्य भस्यो-
दये वा” इति । “यस्मिन्धिष्ण्ये यच्च कर्मोपदिष्टं तदैवत्ये
तन्मुहूर्तेऽपि कार्यम्” इति च । कथितेऽपि दिननक्षत्राला-
भे सति तदुदये तन्मुहूर्ते वा करग्रहो महाद्विः कथं नेष्यते
अपि तु इष्यत इत्यर्थः । अतोऽखिलं समस्तं जगतः
फलं स्थूलमेवमिति । एवं च तर्हि सूक्ष्मफलस्य गति-
माह—तद्विशेषयतीति । तत्र स्थूलफलं सूक्ष्मतागतिः
सूक्ष्मफलस्य गतिः विशेषयति विशेषं करोति । सूक्ष्म-
फलं स्थूलफलस्य सविशेषतां करोतीत्यर्थः ॥ ४ ॥

अव्यवस्थितिरिति प्रतिबलं तत्तद्वहनविक-
ल्पसमूहैः ॥ स्थूलमप्यनुसरंति कृतीन्द्राः
केवलं न रमणीयमणीयः ॥ ५ ॥

तर्हि सूक्ष्ममेव फलं प्रमाणं कथं न स्यादित्याशं-
कायामाह । स्वागता । प्रतिबलं तत्तद्वहनविकल्पसमूहैः
अव्यवस्थितिः स्यादिति हेतोः मुनीन्द्राः स्थूलमप्यनुसरं-

ति । केवलमणीयो न रमणीयमित्यन्वयः । वेलां वेलां
प्रतीति प्रतिबेलं वीप्सार्थेऽव्ययीभावः । तस्यास्तस्या
वेलाया ऊहनं. वितर्कस्तस्य विकल्पाद्युद्धादयः तेषां
समूहास्तैः कृत्वा अव्ययस्थितिरव्यवस्था स्यादिति
हेतोर्मुनीन्द्रा गर्गादयः स्थूलं फलं मासतिथ्यादिकमप्य-
नुसरन्ति तत्र प्रवर्तते । केवलमणीयः सूक्ष्मतरं फलं न
रमणीयं स्यात् । अतिशयितमणु अणीयः सूक्ष्मफल-
स्यानवस्थानात्स्थूलेष्वपि प्रवर्तव्य इति भावः । एतदपि
स्पष्टयिष्यति ॥ ५ ॥

भिन्नभिन्नफलभागभुवि भूयानेकधिष्ण्यदि-
नजोऽपि जनोऽयम् ॥ सूक्ष्मताऽपि ननु तेन
गरिष्ठा सा च मूलमनुरुध्य विधेया ॥ ६ ॥

एवं चेत्तर्हि सूक्ष्मफलमार्किचिस्स्यात्तत्राह—स्वागता ।
भुवि पृथिव्यां वर्तमानः अयं भूयान् बहुतरो जनः ।
जातावेकवचनम् । एकधिष्ण्यदिनजोऽपि एकनक्षत्राति-
थिजातोऽपि भिन्नफलभाक् विसदृशफलभागी भवती-
ति प्रत्यक्षं, तेन कारणेन सूक्ष्मतापि गरिष्ठा गरीयसी
स्यात् । अपि समुच्चये । तर्हि स्थूलं त्याज्यं स्या-
त्तत्राह—सा चेति । सा च सूक्ष्मता मूलं स्थूलम् अनु-
रुध्य अनुसृत्य विधेया स्यात् । स्थूलानुसारेण सूक्ष्म-
तापि ग्राह्येत्यर्थः ॥ ६ ॥

सूक्ष्मो नवांशाद् द्विरसांश एव त्रिंशल्लवस्त-
ल्लवतोऽपि सूक्ष्मः ॥ ततोऽपि लिप्तेत्यवलि-
प्तवाचां दृगेतु कस्यांनियतौ समस्याम् ॥ ७ ॥

कथं स्थूलमनुरुध्य सूक्ष्मता ग्राह्येत्येतदर्थं सूक्ष्म-
ताया अनवस्थानं प्रकटयति । उपजातिका । ‘सूक्ष्म-
योरपि न किं नवांशयोः’ इति नवांशः किल सूक्ष्म उ-
क्तः । नवांशादपि द्विरसांशो द्वादशांशः सूक्ष्मः । द्वौ
च रसाश्च तैः अंशः आदौ द्वयंशः ततस्तै रसांश इति
कृत्वा द्वादशांश एव सिद्धः । यथा—“सूर्यनदैर्हतं त-
त्स्यादायुर्मासादिकं स्फुटम्” इत्यादिषु सूर्यहतं सन्नं-
दहतमिति व्याख्यायते न तु द्वादशाधिकनवशतैस्त-
द्दत्रापि । अत एव बृहज्जातके—‘चंद्रोपगद्विरसभागस-
मानरूपम्’ इति । तल्लवतस्तस्माद्द्वादशांशादपि त्रिंश-
ल्लवस्त्रिंशांशः सूक्ष्मः ततोपि लिप्ता कला सूक्ष्मा इती-
त्यनेन प्रकारेण अवलिप्तवाचाम् अवलिप्ता उपलिप्ता
वाक् येषां ते तथा । एवमुक्तवतामित्यर्थः । पुरुषाणां
दृक् दृष्टिः कस्यां नियतौ समस्यां समाधानमेतु गच्छतु
समसनं समस्या क्यप् । एवं सूक्ष्ममुक्तवतां दृष्टेर्न
कुत्राप्यवसानमस्ति । सूक्ष्मस्य अपर्यवसानादिति
भावः ॥ ७ ॥

अत्यंतसूक्ष्मः स किलैकदेशो येनाखिलानां
भिदुरा फलर्द्धिः ॥ नास्मादृशां दृग्विषयः
स तस्मान्मूलानुकूला व्यवहारसिद्धिः ॥ ८ ॥

एवं सूक्ष्मकालानां कलने सति सिद्धांतमाह । इंद्र-
वज्रा । स किल कालस्यैकदेशः अत्यंतसूक्ष्मः अतिदुर्ल-
क्ष्यः । येन कृत्वाखिलानां प्राणिनां फलर्द्धिः फलसंपद्भि-
दुरा भेदनशीला स्यात् । भिन्नभिन्नेति यावत् । “विदि-
भिदिच्छिदेः कुरच् ।” स सूक्ष्मकालः अस्मादृशां वय-
मिव दृश्यन्ते तेऽस्मादृशः तेषां चर्मचक्षुषां दृग्विषयो
दृष्टिगोचरो न स्यात् । दुर्ज्ञेय इति यावत् । तथा च नार-
दः—“स्वस्थे नरे सुखासीने यावत्स्पंदति लोचनम् ।
तस्य त्रिंशत्तमो भागस्तत्परः परिकीर्तितः ॥ तत्पराच्छ-
तशो भागश्चुटिरित्यभिधीयते । चुटेः सहस्रभागो यो ल-
भ्यकालः स उच्यते ॥ देवोऽपि तं न जानाति किं पुनः
प्राकृतो जनः ॥ स कालोऽप्यन्यकालो वा पूर्वकर्मवशाद्भ-
वेत् ॥ निमित्तमात्रं दैवज्ञस्तद्वशाच्च शुभाशुभम् ॥” इति
सिद्धांतयति । तस्मादिति तस्मात्सूक्ष्मकालस्यादृग्विष-
यत्वात् सर्वजनानां व्यवहारसिद्धिः मूलानुकूला स्यात् ।
मूलस्यानुकूला मूलानुकूला स्थूलानुसारिणी वत्सरमा-
रभ्य नवांशपर्यंतमित्यर्थः । अस्मत्साध्यत्वात् ॥ ८ ॥

इति सति यदि मूले सूक्ष्मभावांशलब्धिस्त-
दखिलमपि सिद्धं नास्ति चेन्मूलसंपत् ॥

तदुभयलवनाशो दुर्गमत्वादणूनां परिणति-
रिति रूढा कालमीमांसया नः ॥ ९ ॥

इति विवाहवृन्दावने कालमीमांसाध्यायो
द्वितीयः ॥ २ ॥

अथानयोः स्थूलसूक्ष्मयोः समाधानमाह । मालिनी ।
इत्यनंतरोक्ते सति मूले स्थूलमध्ये यदि सूक्ष्मभावांशल-
ब्धिर्लाभश्चेत्स्यात् तत्तदाखिलं सर्वमपि सिद्धं फलितं
स्यात् । एवं स्थूलं तदंतर्गतं सूक्ष्मं च विलोक-
नीयमित्युक्तम् । अन्यथा बाधकमाह—नास्तीति ।
चेन्मूलं संपत्स्थूललब्धिर्नास्ति तदा तदुभयलवनाशः
स्यात् । फलजातस्योभयलवौ स्थूलसूक्ष्मलक्षणौ
यौ विभागौ तयोर्द्वयोरपि नाशः स्यात् । कस्मात् ।
अणूनामतिसूक्ष्माणां दुर्गमत्वात् । दुःखेन गम्यन्ते
ज्ञायन्ते तानि दुर्गमाणि तेषां भावस्तत्त्वं तस्मात् । ततो
नवांशपर्यंतं सूक्ष्मकालस्य मनुष्यगम्यत्वात्तत्पर्यंतं
स्थूलांतर्गतं सूक्ष्मं विचारणीयमिति सिद्धम् अतो
नवांशयोरपि मेलकः स्यादिति । नवांशमेलकस्य जने
व्यवहारो नास्तीत्येतत्सप्रपञ्चं वक्ष्याति । एतदुक्तं
मया मनसि समाहितमित्याह—परिणतिरिति । इतीयं
कालमीमांसया कालविचारणेन नोऽस्माकं परिणतिः
रूढा स्फुरिता । कालस्य मीमांसा विचारणम् मानिति

स्वार्थे सन् ततः प्रत्ययांताद्भावे अच् । कालविचारणे
क्रियमाणे अस्माकमयं बुद्धिपरिणामो रूढ इत्यर्थः ॥ ९ ॥

इति श्रीसकलागमाचार्यवर्यश्रीकेशवसांवत्सरात्म-
जगणेशविरचितायां विवाहवृंदावनटीकायां विवाहदी-
पिकायां कालमीमांसाध्यायो द्वितीयः ॥ २ ॥

अथ मेलकाध्यायः ।

व्यये न वित्तं न तपस्यपत्यं नायुर्द्विषत्येव
वधूवराणाम् ॥ द्विर्द्वादशः पञ्चनवाष्टपष्ठो
जन्मक्षयोः सख्यविधिर्न दृष्टः ॥ १ ॥

एवं प्रासंगिकं कालमीमांसनं निरूप्य अधुना प्रकृतं
मेलकाध्यायं निरूपयति । तत्रादौ राशिमेलकं सोपप-
त्तिकमाह । उपजातिका । वधूवराणां स्त्रीपुरुषाणां जन्म-
क्षयोर्जन्मनः सकाशादन्यराश्योर्द्विर्द्वादशः सख्यविधिः
मैत्रविधिर्न दृष्टः न लक्षितः पूर्वमुनिभिः । द्वौ च दश च
द्विर्द्वादश तयोः पूरणो द्विर्द्वादशः एकस्य राशेः सका-
शादन्यराशिर्द्वितीयस्तस्मादप्यन्यो द्वादश इत्यर्थः ।
अत्र हेतुः । व्यये न वित्तमिति । यतो व्यये सति
वित्तं न स्यात् । व्ययो द्वादशस्थानं वित्तं द्वितीयं यत्र
व्ययस्तत्र कुतो धनमिति । अनेनैवात्र दरिद्रत्वमिति
फलं च सूचितं भवति । एवं तपसीत्यादिहेतुना पञ्चन-
वेत्यादि । पञ्च च नव च अष्ट च षट् पञ्चनावाष्टषट्

तेषां पूरणः पंचनवाष्टषष्ठः पंचमो नवमोऽष्टमः षष्ठ
इत्यर्थः । तपसि सति अपत्यं न स्यात् । तत्र ब्रह्मचर्या-
दिनियमविधानात् । तपो नवमं स्थानमपत्यं पंचमम्
अतो न पंचमनवमः सख्यविधिः । अत्रानपत्यतेति
फलमपि सूचितम् । द्विपति शत्रौ सति आयुर्नैव स्यात् ।
शत्रुसांनिध्ये कथमायुरिति शत्रुः षष्ठमायुरष्टमम् । अतो-
ऽष्टमषष्ठो न सख्यविधिः अत्र नायुष्यमिति फलं च ।
अर्थाच्छेषाश्चतुर्दशमतृतीयैकादशोभयसप्तमाः शुभाः ए-
कराशित्वे विशेषं वक्ष्यति ॥ १ ॥

दृश्यते सुहृदभिन्नपतित्वं क्षेत्रयोस्तदखि-
लेष्वपि मेलः ॥ भीरुभादचलपंचतृतीया
शोकवैरविपदेवरतारा ॥ २ ॥

अथास्यापवादं तारामैत्रं चाह । स्वागता । यदा क्षेत्र-
यो राश्योः सुहृदभिन्नपतित्वं दृश्यते तत्तदा अखिलेषु
द्विर्द्वादशादिषु अपि मेलः सख्यं स्यात् । मेलनं मेलः ।
किं पुनः । शुभेषु चतुर्थदशमादिषु सुहृदौ अभिन्नौ च
सुहृदभिन्नौ तौ च तौ पती च तयोर्भावस्तत्त्वं पत्योः
सुहृत्त्वमेकत्वं चेत्यर्थः । राश्यधिपांस्तत्सुहृत्त्वं च वक्ष्य-
ति । तथा चोक्तम्—“न वर्णशुद्धिर्न गणो न योनिर्द्वि-
र्द्वादशे चैव षडष्टकेऽपि । वरेऽपि दूरे यदि वा त्रिकोणे
मैत्री यदि स्याच्छुभदो विवाहः ” इति । अथ तारामैत्रं
भीरुभादिति । भीरुः स्त्री । “विशेषास्त्वंगना भीरुः

कामिनी वामलोचना ” इत्यभिधानात् । तस्या नक्षत्र-
मारभ्य वरतारा वरनक्षत्रम् । अचलपंचतृतीया क्रमेण
शोकवैरविपदे स्यात् । द्वंद्वैकत्वे क्लीबत्वम् । अचलाश्च
पंच च त्रयश्च तेषां पूरणी तथा सप्तमी पंचमी तृतीया
चेत्यर्थः । सप्तमी शोकाय पंचमी वैराय तृतीया विपदे
इति एतत्प्रथमनवके एवं पुनर्द्वितीये तृतीयेऽपि । केचि-
देवमुभयभाभ्यामपीच्छन्ति । तथा चाहुः—“पुमृक्षाद्रणये-
द्यावत्कन्यर्क्षं कन्यभादपि ॥ वरमं नवहृच्छेषे ताराः
सन्ति परस्परम् ” । इति । एतदन्यदेशेषु प्रसिद्धं ग्रंथ-
कृतोक्तं तत्तद्देश एव ॥ २ ॥

नक्षत्रमेकं यदि भिन्नराश्योरभिन्नराश्यो-
र्यदि भिन्नमृक्षम् ॥ प्रीतिस्तदानीं निबिडा
नृनार्योश्चेत्कृत्तिकारोहिणिवन्न नाडी ॥ ३ ॥

अथैकनक्षत्रे एकराशौ च विशेषमाह । उपजातिका ।
यदि नृनार्योर्वरवध्वोः भिन्नराश्योः संतोर्नक्षत्रमेकं भवति
अथवा अभिन्नराश्योः एकराश्योरपि भिन्नमृक्षं स्यात् ।
अपि वार्थे । तदा निबिडा अतिशयिता नृनार्योः
प्रीतिः स्यात् तत्र नाडीदोषोपि नास्तीत्याह—चेत्कृत्ति-
केति । चेत्कृत्तिकारोहिणिवत्तदा नाडी न स्यात् ।
यथाः कृत्तिकारोहिण्योरेकनाडीत्वेपि एकराशौ सति
नाडी दोषो न स्यादित्यर्थः । अनेनैव गणदो-
षोपि निरस्तः । एवं शततारकापूर्वाभाद्रपदादिष्वपि ।

तथा च गर्गः—“एकराशिं विना नाडीयोगमादौ विवर्जयेत् ॥ न दोषस्त्वेकराशिस्थे भकूटेन्येषु मृत्युदः” इति । भृगुरपि—“ दंपत्योरेकराशिश्चेत्पृथग्दक्षं यदा भवेत् । वसिष्ठोक्तो विवाहः स्याद्गणनाडी न चिंतयेत्” इति ॥ ३॥

पराशरः प्राह नवांशभेदादेकक्षराशयोरपि सौमनस्यम् ॥ एकांशकत्वेपि वसिष्ठशिष्यो नैकत्र पिंडे किल नाडिवेधः ॥ ४ ॥

एतद्बहुमतमुक्त्वा मतांतरमाह । उपजातिका । एको च तौ ऋक्षराशी च तौ तथा एकनक्षत्रे एकराशौ सत्यपीति । अपिः संभावनायाम् । नवांशभेदान्नक्षत्रचरणभेदात्सौमनस्यं सुहृत्त्वं पराशरः प्राह । एकनक्षत्रे एकराशावशुभमिति बहुमतं प्रागुक्तं तत्रापि चरणभेदे सति शुभमिति पराशरमतमित्यर्थः । तत्राप्येकांशत्वे चरणैकत्वेपि वसिष्ठशिष्यः सौमनस्यं प्राह । एतदूषयिष्यति । अत्र नक्षत्रैक्ये नाडीदोषो नास्तीत्याह—नैकत्रेति । द्वयोरपि नक्षत्रयोरेकत्र एकस्मिन् स्थाने पिंडे गोलके सति किल निश्चयेन नाडिवेधो न स्यात् । द्वयोर्व्यवहितयोः सततोरेव वेधः स्यादेकत्वे तु न स्यादिति भावः । नाडिरितीकारांतः, कृदिकासक्षितेन” इति डीवंतोप्यस्ति ॥ ४ ॥

नाग्निर्दहत्यात्मतनुं यथा हि द्रष्टा स्वदृष्टेर्न-
हि दर्शनीयः ॥ एकांशकत्वेपि समप्रभावान्न
भर्तृभार्याव्यवहारसिद्धिः ॥ ५ ॥

अथ नाडीदोषाभावेऽत्र दृष्टान्तमाह । उपजाति-
का । यथा हि । अग्निः आत्मतनुं स्वमूर्तिं तेजोरूपां न
दहति अपि च दर्शनीयो दृश्यः पुरुषः स्वदृष्टेर्द्रष्टा
न स्यात् । कर्मणि षष्ठी । चक्षुष्मानपि द्रष्टा स्वदृष्टिं
न पश्यतीति । तथा एकत्र पिंडे नाडीवेधो न स्यादि-
ति पूर्वेणान्वयः । अथैकांशकत्वे दोषमाह—एकांशकत्वे
इति । एकांशकत्वे चरणैकत्वे सति तु भर्तृभार्याव्य-
वहारसिद्धिर्न स्यात् । कुतः, समप्रभावात् समानसा-
मर्थ्यात् । अयं भावः—नृनार्योरेकांशकत्वात्समानसा-
मर्थ्यं तस्मिन् सति अयं भर्ता तदधीनेयं भार्येति
सर्वव्यवहारो गार्हस्थ्यरूपो न संभवतीति अत
एकांशकत्वे सौमनस्यं न स्यादिति भावः ॥ ५ ॥

रुद्रार्यमंद्रवरुणद्वयमश्विनी च विश्वाग्निवा-
युफाणिनां युगमंत्यभं च ॥ शेषाणि चेति
नवकत्रयमेकयाते जन्मोडुनी वरवधूनि-
धनाय नाडी ॥ ६ ॥

अथ नाडीवेधमाह । वसंततिलका । रुद्र आर्द्रा
अर्यमा उत्तराफाल्गुनी इंद्रो ज्येष्ठा वरुणः शततारका

एतानि चत्वार्यारभ्य प्रत्येकं द्वयमेवमष्टौ अश्विनी
 च एकाकिनी एवमेको नवकः । विश्वे उत्तराषाढा अ-
 ग्निः कृत्तिका वायुः स्वाती फणी आश्लेषा एतदारभ्य
 प्रत्येकं युगं युग्ममेवमष्टौ । अंत्यभं रेवती च एका-
 किनी एवं द्वितीयो नवकः । शेषाणि पूर्वाफाल्गुनीचित्रा-
 धनिष्ठाभरणीमृगपूर्वापाढानुराधापुष्योत्तराभाद्रपदाः अ-
 यं तृतीयो नवकः । इति नवकत्रयं स्यात् । वधूवरयोर्ज-
 न्मोडुनी जन्मनक्षत्रे एकपाते एकस्मिन्नवकमध्ये प्राप्ते
 तदा नाडी स्यात् । किमर्थं, वरवधूनिधनाय द्वयोरेक-
 नाड्यां मृत्युः स्यादित्यर्थः । अत्र रुद्रादिदेवतानिर्देशेन
 तन्नक्षत्रेणार्द्रादि गृह्यते । लोके हि स्वामिशब्दं सेवके
 प्रयुजाना दृश्यन्ते अतो देवताशब्दस्तन्नक्षत्रतिथ्यादि-
 पूषचर्यते, तथाविधवृद्धप्रयोगदर्शनाच्च । “नागो
 द्वादशनाडीभिर्दिक्पंचदशभिस्तथा ॥ भूतोष्टादशनाडी
 भिर्दूषयत्युत्तरां तिथिम् । ” इत्यादि । नागः पंचमी
 दिग्दशमी भूतश्चतुर्दशीति ॥ ६ ॥

प्रमीयमाणोपि मतैर्मुनीनां त्रिद्वयंघ्रिनक्ष-
 त्रभुवः कुमार्याः ॥ नाडी चतुःपंचतयस्य
 पक्षो नक्षोदवीथीविषयत्वमेति ॥ ७ ॥

अथ त्रिनाडिकाचक्राभिप्रायेण नाडीवेध उक्तः केचित्तु
 त्र्यंघ्रिभद्व्यंघ्रिभोत्पन्नकन्यायाश्चतुःपंचनाडीचक्रे वेध-

माहुः तन्मतं दूषयति। उपजातिका। त्रयश्च द्वौ च अंग्रयो-
यस्य त्रिद्वयं त्रि तच्च तन्नक्षत्रं तत्र भवतीति त्रिद्वयं त्रिनक्षत्र-
भूस्तस्याः कुमार्याः क्रमान्नाडीचतुःपंचतयस्य चत्वार-
रश्च पंच च चतुःपंच तेऽवयवा यस्य तच्चतुःपंचतयं नाडी-
चतुष्टयं नाडीपंचकं चेति “संख्याया अवयवे तयप्”
तस्य पक्षः मुनीनां हारीतादीनां मतैः प्रमीयमाणोऽपि
प्रमाणं प्राप्नुवन्नपि आगमप्रामाण्यं प्राप्नोति क्षोदवीथी-
विषयत्वं क्षोदस्य वीथी पदवी तस्याः विषयत्वं विचार-
मार्गगोचरत्वं नैति न गच्छति । त्र्यंघ्रिभं कृत्तिकादिकं,
द्वयंघ्रिभं मृगशीर्षादिकम् । तथा च हारीतः—“त्र्यंघ्रिभे
द्वयंघ्रिभे कन्या जाता या गणयेत्क्रमात् ॥ वह्निभादिन्दु-
भान्नाडी चतुःपंचसु पर्वसु ॥” इति । अस्य विषयमाह
वृद्धगर्गः—“जांगले च चतुर्माळा पांचाले पंचमालिका ।
त्रिमाला सर्वदेशेषु विवाहे ऋषिसंमतम् ॥” इति । एवं क्षोदे
क्रियमाणे स पक्षोऽत्र देशे व्यवहारं न प्राप्नोतीत्यर्थः ॥ ७ ॥

अश्वेभाजोरगाहिश्चखनकरिपवो मेष ओ-
तुर्द्विराखुर्गोकाल्यौ व्याघ्रकाली पशुरि-
पुहरिणैश्चकीशाः क्रमेण ॥ द्वौ बभ्रू कीश-
सिंहौ तुरिगमृगपतिच्छागमातंगमेवं नेष्टायो-
निः सवैरा वरयुवतिनृपामात्ययोरश्विनीतः ८ ॥

अथ योनिमैत्रमाह । स्रग्धरा । अश्वस्तुरगः इमो हस्ती
अजो मेषः उरगः सर्पः पुनरहिः सर्पः श्वा शुनकः खनक-

रिपुर्मूषकशत्रुमार्जारः मेषः अजः पुनरोतुमार्जारः द्वि-
 द्विवारम् । आसुर्मूषकः गौर्धेनुः काली महिषी व्याघ्रः
 प्रसिद्धः पुनः काली महिषी पुनः पशुरियुर्व्याघ्रः हरि-
 णो मृगः पुनरेणो मृगः पुनः कीशो वानरः सिंहः
 प्रसिद्धः तुरगोऽश्वः पुनर्मृगपतिः सिंहः छागो मेषः
 पुनर्मातंगो हस्ती द्वंद्वैकत्वे क्लीबत्वम् । एवं क्रमेण अश्वि-
 नीमारभ्य योनिः स्यात् । सा योनिः सर्वैरा नेष्टा क-
 योः वरयुवतिनृपामात्ययोः वरश्च युवतिश्च वरयुवती
 नृपश्च अमात्यश्च नृपामात्यौ वरयुवती च नृपामात्यौ च
 तयोः । पृथक्पृथक्द्वित्वविवक्षायां न बहुत्वम् । अश्वि-
 नीत इत्यत्र “तसिलादिष्वाकृत्वसुचः” इत्यनेन पुंवद्भावे
 प्राप्ते उक्तपुंस्कत्वाभावान्न स्त्रीप्रत्ययलोपः । अत्र यो-
 न्योर्वैरं लोकाज्ज्ञेयम् । “गोव्याघ्रं गजसिंहम्” इत्या-
 दिना ॥ ८ ॥

त्रियुग्मी रोहिण्या सह शिवयमर्क्षे नरि सुरे
 श्रुतिस्वातीमित्रादितिगुरुकरांत्याश्विशशि-
 भम् ॥ परं दैत्ये मृत्युर्दनुजमनुजानामनि-
 मिषैः सह स्वैरं वैरं निऋतितनयानां परि-
 णये ॥ ९ ॥

अथ गणमैत्रीमाह । शिखरिणी । त्रयाणां युग्मानां
 समाहारस्त्रियुग्मी फाल्गुनीद्वयम् आषाढाद्वयं भाद्रप-

दाद्वयं चेति रोहिण्या सह रोहिणी चेत्यर्थः । शिवय-
मर्क्षे आर्द्राभरण्यौ अयं नक्षत्रनवको नरि मनुष्ये
भवेत् । श्रुतिः श्रवणः स्वाती प्रसिद्धा मित्रोऽनुराधा
अदितिः पुनर्वसुः गुरुः पुष्यः करो हस्तः अंत्यं रेवती
अश्वि अश्विनी शशिभं मृगशिरः अयं नवकः सुरे
देवे भवेत् । परं चित्राज्येष्ठाधनिष्ठाविशाखामूलकू-
त्तिकाशततारकामघाश्लेषा इतीदं नवकं दैत्ये भवेत् ।
एवं गणत्रयम् । अस्य प्रयोजनमाह--मृत्युरिति । दनु-
जमनुजानां राक्षसमनुष्याणां मृत्युः नृनार्यो रक्षोमा-
नुषगणयोः सतोः मृत्युः स्यादित्यर्थः । निर्ऋतितनयानां
राक्षसानाम् अनिमिषैर्देवैः सह स्वैरमतिशयितं वैरं
स्यात् । क्र, परिणये विवाहे । अर्थाच्छेषाणां मित्रत्वम् ॥ ९ ॥

चापाजौ वृषभेण कुंभमिथुनौ कर्केण मेषः
स्त्रिया शैलाग्री सविषेण कार्मुकहरीनक्रेण
नित्यं द्विषौ ॥ तद्वत्कुंभतुले झषेण वशगाः
सिंहं विनान्ये नृणां तद्भोज्या जलचारिणो
हरिवशाः सर्वे दिना वृश्चिकम् ॥ १० ॥

अथ स्वाभाविकं राशिर्वैरं तथा वश्यमैत्रं चाह । शार्दूल-
विक्रीडितम् । चापाजौ धनुर्मेपौ वृषभेण सह नित्यं
द्विषौ नित्यविरोधिनी चापेन अजेन वा सह वृषभो नि-
त्यं शत्रुरित्यर्थः । एवमुत्तरत्रापि । कुंभमिथुनौ कर्केण मेषः
स्त्रिया कन्यया शैलाग्री तुलामिथुनौ सविषेण वृश्चिकेन ।

शैलाग्नी इत्यत्र संख्यासंज्ञया तत्संख्यौ राशी विवक्षितौ।
 अतो न बहुत्वम् । यथा निगमवाक्ये । “युग्माग्रियुग-
 भूतानां षण्मुन्योर्वसुरंध्रयोः” ॥ इति । षण्मुन्योः षष्ठी-
 सप्तम्योः वसुरंध्रयोरष्टमीनवम्योः एवमत्रापि । कार्मुक-
 हरी धनुःसिंहौ नक्रेण मकरेण तद्वन्नित्यद्विषौ कुंभतुले
 झषेण मीनेन एते द्विर्द्वादश षडष्टकयोर्मध्ये नित्यवैरिण
 उक्ताः । शेषाणां मैत्रम् । अत्रान्ये हेतुमाहुः ‘शत्रू मंद-
 सितौ’ इत्यादि । सत्याचार्यमते यदधिपत्योः शत्रुत्वम-
 स्ति त एवैते पठिताः शेषाः श्रेष्ठाः । तथा च तद्वाक्यम् ।
 द्विर्द्वादशे-‘मेपझषौ वृषमिथुनौ’ इत्यादि षडष्टके च ‘सिंहो
 मीनयुतः’ इत्यादि । ग्रंथकारस्तु सत्याचार्यमतमैत्रम-
 सहमानोऽमुं हेतुं परित्यज्य राश्योरेव वैरं नित्यद्विषावित्य
 नेनावदत्, न तु तदधिपतिवशतेति ग्रंथकारस्याशयः ।
 अथ वश्यमैत्रं वशगा इत्यादि सिंहं विनाऽन्ये सर्वे
 राशयः नृणां मनुजानां तुलामिथुनादीनां वशगाः स्युः
 वशमधीनं गच्छन्ति ते तथा । तेषां नृणां भोज्याः
 जलचारिणो मीनादयः स्युः, हरेः सिंहस्य वृश्चिकं विना
 सर्वे राशयः वशगाः स्युः शेषं वश्यावश्यं लोकप्र-
 सिद्धेज्ञेयम् ॥ १० ॥

स्याद्राशिमैत्री धुरि कुंभहयोः करग्रहस्तद्र-
 हविग्रहेपि ॥ तस्यामसत्यां मृगराजमीना-
 वप्यादृतौ तद्रहयोः सुहृत्त्वे ॥ ११ ॥

अथैषां गुणदोषाणां निर्णयं विवक्षुस्तावत्तत्र किञ्चित्स्वकौशलं दर्शयति । उपजातिका । धुरि भारे मुख्योत्तेयावत् । कुम्भहयोः कुम्भसिंहयोः राशिमैत्री स्यात् । समसप्तकत्वात् । तयोः राश्योः ग्रहौ स्वामिनौ शनिरवी तयोः विग्रहे वैरेपि करग्रहः स्यात् । तस्यां राशिमैत्र्यामसत्यां षडष्टकत्वान्मृगराजमीनौ सिंहमीनावप्याहतौ करग्रहे गृहीतौ । तत्र हेतुः । कस्मिन् सति तद्ग्रहयोस्तस्वामिनोः गुरुसूर्ययोः सुहृत्त्वे मैत्रे सति । ग्रहमैत्रं सुरगुरुः' इत्यादिना वक्ष्यति । राशिमैत्रग्रहमैत्रयोरन्यतरलाभे शुभमिति तात्पर्यार्थः ॥ ११ ॥

पत्योर्विरोधे सति भृत्ययोः स्यान्मेलेऽप्यमेलस्तदलं भूमैत्र्या ॥ अत्रोच्यते किं न मिथो वधः स्यादेकस्य सेनानरयोर्विरोधात् ॥ १२ ॥

अथाक्षिपति । इंद्रवज्रा । पत्योः स्वामिनोर्विरोधे वै सति भृत्ययोस्तत्सेवकयोर्मेले सत्यपि अमेलममैत्र स्यादिति लोकप्रत्यक्षम् । अतो ग्रहवैरे सति राशिमैत्रं न मुख्यमिति भावः । अत्रास्मिन्विषये उच्यते उत्तरं दीयते--एकस्य राज्ञः सेनासंबन्धिपुरुषयोर्मिथः परस्परं विग्रहाद्विरोधात् वधो घातः किं न स्यात् अपि तु स्यादेव अतो राशिमैत्रं मुख्यमित्युक्तम् ॥ १२ ॥

अपश्यति स्वामिनि तद्वधश्चेद्ग्रहेश्वराणां किमदृष्टमस्ति ॥ अतोधिकं चेत्प्रभुसख्यमेव ततो गतिः का समसप्तकस्य ॥ १३ ॥

अथ प्रत्युत्तरम् । उपेन्द्रवज्रा । स्वामिनि अपश्यति सति तयोः सेनानरयोर्वधो मिथः स्यात् । स्वामिसमक्षं न स्यादेवेति । इति चेत्तर्हि गृहेश्वराणां राश्यधिपानां किमदृष्टमास्ति अपि तु तैः सर्वं दृष्टमेव देवतात्वात् । यत्तु दशमतृतीये इत्यादिना दर्शनादर्शनमुक्तं तत्तत्फलार्थमेव वास्तवं तु गृहेश्वराणां किमदृष्टमस्तीति । अतः कारणात्प्रभुसख्यं स्वामिमैत्रमेवाधिकमिति चेत्, तदा समसप्तकस्य कुम्भसिंहावित्यादिकस्य का गतिः कः प्रश्नो गमनिका वा कथ्यतामिति ॥ १३ ॥

स्वभावमैत्री सखिता स्वपत्योर्वाशित्वमन्योन्यभयोनिशुद्धिः ॥ परः परः पूर्वगमे गवेष्यो हस्ते त्रिवर्गो युगपद्युतिश्चेत् ॥ १४ ॥

सिद्धान्तरूपां गतिमाह । उपजातिका । स्वभावमैत्र्यादिषु चतुर्षु मध्ये पूर्वपूर्वगमे पूर्वपूर्वालाभे सति परःपरः उत्तरोत्तरः गवेष्यः अन्वेषणीयः । आदौ राश्योः स्वभावमैत्री समसप्तकादिका विलोक्या तदलाभे स्वपत्योः तद्राश्यधिपयोः सखिता तस्य ग्रहसख्यस्यालाभे वशित्वं राश्योर्वश्यत्वं वश्यालाभेन्योन्यं भयोर्नक्षत्रयोर्योनिशुद्धिः योनिवैराभावः चेत्, युगपद्युतिश्चतुर्णामपि लाभस्तदा हस्ते त्रिवर्गो स्यात् 'त्रिवर्गो धर्मकामार्थैः' इत्यमरः । धर्मादयः करगताः स्युरिति । एवं पूर्वपूर्वस्यै-

कस्य अलाभे सति उत्तरोत्तरलाभेन तदपवाद उक्तः
चतुर्णामपि लाभेति शुभं त्रयाणां द्वयोर्वा लाभे तार-
तम्य कल्प्यम् ॥ १४ ॥

आपाश्वर्क्केन्द्रद्वयगाः प्रसूतौ तत्कालमित्रा-
णि मिथः खपांथाः ॥ न्यूनामपि स्त्रीनरभृत्य-
राज्ञां तत्कालसख्यं विशिनष्टि मैत्रम् ॥ १५ ॥

अथ स्वाभाविकग्रहमैत्रस्यापि तत्कालसख्येन न्यू-
नाधिकतामाह । इन्द्रवज्रा । प्रसूतौ जन्मकाले यस्माद्ग्रहा-
त्पाश्वर्ययोः केन्द्रद्वयं पाश्वर्क्केन्द्रद्वयं तन्मर्यादीकृत्येत्यापा-
श्वर्क्केन्द्रद्वयं तत्र गच्छन्ति ते आपाश्वर्क्केन्द्रद्वयगाः खपांथाः
ग्रहाः । खे आकाशे पथन्ति गच्छन्ति ते खपांथाः तेन ग्रहणे
सार्धं मिथो मित्राणि स्युः । एतदुक्तं भवति । जन्मकाले
यस्मिन्नाशौ यो ग्रहः स्थितस्तस्मात्पृष्ठवर्ति केन्द्रं दशम-
स्थानं भवति । अग्रतश्चतुर्थं तदवधित्वेन तदन्तर्वर्तिस्था-
नानि दशमैकादशद्वादशद्वितीयतृतीयचतुर्थानि एष्व-
न्यतमस्थाने स्थितौ ग्रहौ तौ तत्कालं मिथो मित्रे स्तः ।
अन्ये तु शत्रव इति । तथा च वराहः—“तत्कालेन दशा-
यबंधुसहजस्वांत्येषु मित्रं स्थितम्” इति । प्रसूतिग्रहणं त-
त्कालसख्यस्य जातकशास्त्रोक्तेः । अतोऽन्यत्रापि तद्वि-
लोक्यमिति ज्ञेयम् । तदेवाह—न्यूनामपि । स्त्रीनरौ च
भृत्यराजानौ च तेषां स्त्रीनराणां भृत्यराज्ञां च ग्रहव-

शेन या स्वाभाविकी मैत्री ताम् । एतत्कालसख्यं
विशिनष्टि विशेषयति । कथंभूतामपि न्यूनामपि किं
पुनः संपूर्णाम् । तथाहि । स्वाभाविको यो मित्रं समः
शत्रुर्वा स चेत्तत्काले मित्रं भवति तदा क्रमेणा-
धिमित्रं मित्रं समः स्यात् । चेत्तत्काले शत्रुस्तदा समः
शत्रुरधिशत्रुरिति ॥ १५ ॥

षट्कर्मणां शासितदेवदैत्यौ राजन्यकस्या-
धिपती कुजाकौ ॥ विद्लूद्रयोश्चंद्रबुधौ श-
निश्च संकीर्णपः स्त्रीनृषु वर्णमैत्री ॥ १६ ॥

अथ वर्णमित्रमाह । इंद्रवज्रा । यजनयाजनादीनि
षट्कर्मणि तानि येषां ते षट्कर्मणः विप्राः तेषाम् । शासि-
तदेवदैत्यौ अधिपौ स्तः । शासिताः शिक्षिताः देवदैत्या
याभ्यां तौ गुरुशुक्रावित्यर्थः । राजन्यानां क्षत्रियाणां
समूहो राजन्यकं तस्याधिपती कुजाकौ स्तः । विद्लू-
द्रयोः क्रमेण चंद्रबुधौ । विशां चंद्रः शूद्राणां बुध इति ।
संकीर्णानां संकरभवानां निषादादीनां पतिः शनिः ।
स्त्रीनृषु वधूवरेषु वर्णमैत्री स्यात् । तद्यथा-राश्यधिपयो-
र्वर्णौ विलोक्यौ । तत्रोत्तमवर्णः पुरुषः शस्तः समवर्णो
मध्यः हीनवर्णोऽधम इति । एतदुक्तं ग्रंथकृता स्वदेशप्र-
सिद्धेः । अन्यदेशे तु “मीनाद्ब्राह्मणपूर्वा वर्णाः कन्यो-
त्तमो वरः श्रेष्ठः । मध्यस्थः समवर्णो नीचो हीनोद्भवः

पुरुषः” इति । इयं वर्णमैत्री केवलं गुणमात्रा न तु मेलक-
निर्णयाय । अतो मेलकनिर्णयानंतरमेवोक्ता ॥ १६ ॥

सुरगुरुर्ज्ञगुरु कविकोविदौ विरवयो विकुजा
विरवींदवः ॥ अशशिमूर्यकुजाः सुहृदो
रवेर्यवनयुक्तिरियं न यवीयसी ॥ १७ ॥

एवं राशिकूटमुक्त्वा तदुपयोगिग्रहमैत्रं जातकोक्तमत्राह ।
एतदारभ्य श्लोकाष्टकं द्रुतविलंबितम् । रवेः रविमारभ्य
एते सुहृदः स्युः । अर्थादन्ये शत्रवः । रवेः सुरगुरुर्मित्रम्
अन्ये शत्रवः । चंद्रस्य बुधगुरु मित्रे शषाः शत्रवः ।
भौमस्य शुक्रबुधौ मित्रे अन्ये शत्रवः । बुधस्य रविव्य-
तिरिक्ता मित्राणि रविः शत्रुः । गुरोः कुजव्यतिरिक्ता
मित्राणि कुजः शत्रुः । शुक्रस्य रवींदुव्यतिरिक्ता मित्राणि
रवींदू शत्रू । शनेः शशिसूर्यकुजव्यतिरिक्ता मित्राणि
शशिसूर्यकुजाः शत्रवः । इयं यवनाचार्याणां युक्तिर्न
यवीयसी न कनिष्ठा । ‘स्थूलदूरयुव’ इति यवादेशः ।
यवनाचार्यमतमिदं महदित्यर्थः ॥ १७ ॥

इदमुदीर्य वराहविरोचनो निजमतेऽपि न
दूषितवान् पुनः ॥ स बहु मन्यत एव यथा-
तथं जयति शास्त्रमिदं यवनेष्वपि ॥ १८ ॥

कथमिदं महदिति संस्थापयति । विरोचनः सूर्यः
मिहिरोऽपि सूर्यः अतो वराहमिहिरः इदं यवनमतं निज-
मते बृहज्जातकादाबुदीर्य उक्त्वापि न दूषितवान् । पुन-

वाक्यालंकारे । अन्यमतं स्वमते न हि निवेश्यं, यदि निवेशितं दूषितव्यं नो चेत्तर्हि तत्संमतमेवेति न्यायविदः । वक्ष्यति च । अतः कारणात्स वराहः इदं ग्रह-
मैत्रीशास्त्रं यवनेषु यथातथं सत्यं बहु अतिशयितं जयति सर्वोत्कर्षेण वर्तत इति मन्यत एव । वराहोऽपि यवन-
शास्त्रं याथार्थ्येन अतितिरां मन्यत एवेत्यर्थः ॥ १८ ॥

परमतं स्वमते विनिवेशितं यदि न दूषित-
मादृतमेव तत् ॥ कलितकेवलसत्यमतः स
तद्यवनयुक्तिषु नूनमनिःस्पृहः ॥ १९ ॥

एतदेव भंग्यंतरेणाह । यस्मात्कारणात्स्वमते स्वमत-
मध्ये निवेशितं निक्षिप्तं परमतं यदि न दूषितं तदा तन्म-
तमादृतं स्वीकृतमेवेति न्यायविदः । तत्तस्मात्कारणात्
नूनमित्यहं तर्के । इति कथं स वराहः कलितकेवल-
सत्यमतः । कलितं लक्षितं केवलं साकल्येन सत्याचा-
र्यस्य मतं येन स तथा । यवनपंक्तिषु यवनाचार्यवचनेषु
अनिःस्पृहः निर्गतः स्पृहाया निःस्पृहः न निःस्पृहोऽनिः-
स्पृह इति । वराहोपि सत्याचार्यमतं सम्यगालोच्यापि
यवनमतं स्पृहयत्येवेत्यहं तर्के इत्यर्थः ॥ १९ ॥

किमबहुत्वमयं मिहिरो दिशन्यहसुहृत्त्व-
मिदं जगृहे हृदि ॥ उभयथापि समं सति
तन्मते महति केऽपि भवेमवयं यतः ॥ २० ॥

एवं चेत्तर्हि वराहो यवनमते अल्पमतत्वं कथमुक्तवानित्याशङ्क्याह । अयं मिहिरो वराहमिहिरः इदं यवनोक्तं ग्रहसुहृत्त्वं ग्रहमैत्रमादिशन्सन्न बहुत्वमबहूनां मतमिति हृदि मनसि किं जगृहे धृतवान् । यवनग्रहमैत्रमुक्त्वा केषांचिदेवं मतमिति कथमुक्तवानित्यर्थः । तथा च तद्वाक्यम् । 'जीवो जीवबुधौ सितेंदुतनयौ व्यर्का विभौमाः क्रमाद्रीद्वर्का विकुजेंदवश्च सुहृदः केषांचिदेवं मतम्' इति । अतो यवनमैत्रमबहुसंमतमिति वराहस्याभिप्राय इति भावः । अत्रोत्तरम्—उभयथेति । तन्मते तस्य वराहस्य मते महति पृथुतरे सति उभयथा उभयपक्षेऽपि समं तुल्यं स्यात् । यतो यस्मात्कारणाद्वयं केचन केऽपि भवेम स्याम । वराहमतं महच्चेत्तर्हि वयमपि महान्तो भवामेत्थुभयत्र समम् । उभयोरपि मानुषत्वादिति भावः ॥ २० ॥

बहुतरैः कृतमेव कृती स चेदनुससर्ति तदप्ययथातथम् ॥ पृथगपि द्विगुणे त्रिगुणे सकृत्त्रिगुणमित्यबहूक्तिरियं यतः ॥ २१ ॥

एतन्निरस्य पुनः संस्थापयति । स कृती कुशलो वराहः बहुतरैर्भूयिष्ठैर्यत्कृतं तदेव अनुससर्ति अनुसरति । बहुमतानुसारमेव वक्तीत्यर्थः । 'सृ गतौ' अयं धातुपाठे वैदिकधातुपाठे वैदिकधातुष्वेव बह्वादिषु पठितः । भाषायां तु भ्वादिष्वेव अतोऽनुससर्तीति छंदस्येव

घटते । भाषायां तु सरतीत्येव । यद्भुक्तिं तु ससतीति ।
तस्मादयं कविप्रमाद एव । अतोऽत्रेदं पठितव्यम्, अनु-
ससार । तदप्ययथातथमिति । इति चेत्तदपि अयथातथं
सत्यं न भवति । अत्र हेतुः—पृथगिति । यतः पृथगपि द्विगुणे
त्रिगुणे प्राप्ते सकृद्विगुणमिति यदुक्तं सा अबहूक्तिः अब-
हूनामुक्तिः सा । यथा वर्गोत्तमस्वराशिद्वेष्काणनवांशके
सकृद्विगुणं वक्रोच्चयोस्त्रिगुणितं द्वित्रिगुणत्वसकृद्विगु-
णमिति वर्गोत्तमादिष्वन्यतमगते वक्रोच्चयोरन्यतरग-
ते च गृहे सति तस्यायुषः पृथग्द्विगुणस्य त्रिगुणस्य
च प्राप्तौ एकवारमेव त्रिगुणं तदायुः कार्यमिति वराहेण
यदुक्तं तन्न बहुसंमतमतो वराहोक्तमपि न बहुसंमतमिति
भावः । तथा चोक्तं कल्याणवर्मणा—‘बहुताडनसंप्राप्तो
यां करोत्येकवर्गणाम् । वराहमिहिराचार्यः सा न दृष्टा
पुरातनैः ॥ ’ इति । अतो वराहोपि बहुसंमतमेव
वक्तीति न किंतु कदाचित्स्वमनोरुचितमपि वक्तीत्य-
तो यवनोक्तग्रहमैत्रविषये केषांचिन्मतमिति वराहेणो-
क्तेपि तद्वाक्यस्याप्रामाण्याद्यवनोक्तमेव ग्रहमैत्रं मह-
दित्यर्थः । एतन्नवांशचिंताव्याजेनापि सम्यक् संस्था-
पयिष्यति । एतद्व्रथकृतः स्वपक्षस्थापनार्थं पांडित्यमात्रं
वास्तवं नैतदिति वयं ब्रूमः । यत् उक्तं वराहेण बृहज्जातके-
“सत्योपदेशो वरमत्र किंतु कुर्वत्ययोग्यं बहुवर्गणाभिः ।
आचार्यकत्वं तु बहुमतो यामेकं तु यद्भूरि तदेव कार्यम्”

इति । अत्रैवं मतभेदे सति सत्योपदेशो वरं तर्हि किंतु अन्ये स्वतुंगवक्रवर्गोत्तमस्य गृहादिगते ग्रहे सति बहुवर्गणाभिर्यदायुः कुर्वन्ति तदयोग्यम्, अनवस्थादोषप्रसंगादिति भावः । आचार्यस्य कर्म आचार्यकं तस्य भावः आचार्यकत्वम् । आचार्यस्य सत्याचार्यस्यायमभिप्राय इत्यर्थः । बहुवर्गणायां प्राप्तायां सत्यां यदेकमधिकं वर्गणं तदेव कार्यमिति । तद्यथा--उच्चगतस्य उच्चगणो रूपत्रयं, वक्रगतस्य चेष्टा गुणोपि रूपत्रयं, तत् घातमूलं स्फुटगुणोपि रूपत्रयं, वर्गोत्तमस्वगृहादिगते आश्रयगुणोपि रूपत्रयासन्नः तत्स्फुटगुणयोर्घातमूलं कर्म गुणोपि रूपत्रयम् । अतः उच्चवक्रवर्गोत्तमस्वगृहे द्रेष्काणादिगतेऽपि सकृद्विगुणमित्येव । अतो वराहेण गर्गसत्यादिमतानुसारेण यदुक्तं तद्युक्तियुक्तं बहुसंमतं चेति । अतो ग्रंथकृता बहुतरैः कृतमेवेत्यादि यदत्रोक्तं तन्न विचारणीयमिति ॥ २१ ॥

अभिदुरावधिपौ सृजतः शुभं शशिनवांश-
कयोरिति देवलः ॥ तदपि चारु न चारुपितै-
र्मुखैर्व्यवहरन्ति तथा वितथाशयाः ॥ २२ ॥

एवं राशिसख्यं प्रसंगेनोक्त्वा इदानीं नवांशसख्यस्यापि ग्राह्यत्वप्रतिपादितत्वात्तत्कथं नोक्तं तद्विषयमाह । जन्मकाले शशिनवांशयोश्चंद्रगतनवांशयोः अभिदुरौ न भिदुरं ययोस्तावभिदुरौ सुहृदौ । भिदेर्भावे कुरच् ।

अधिपौ शुभं सृजतः कुरुत इति देवलो मुनिः प्राह
 तदपि चारु रमणीयं तत्कालमीमांसयैव प्रतिपादितं
 तथा तेन प्रकारेण जनाः वितथाशया न व्यवहरन्ति
 वितथमसत्यमाशयो येषां ते तथा असत्याभिप्रायाः । कैः
 आ ईषत् रुषितैः कुपितैर्मुखैः अयुक्तं मनसि स्वीकृत्य
 किञ्चित्कुपितमुखैर्न व्याहरन्तीत्यर्थः । यद्वा-अवितथा-
 शयाः यथार्थमनोभावाः मनस्येवमेवास्ति परंतु तादृशै-
 र्मुखैस्तथा न व्यवहरन्ति । लोके अप्रसिद्धिभयादिति
 भावः ॥ २२ ॥

लवट्टशैव हि लग्नदृशं विना फलममंसत येऽ-
 पि करग्रहे ॥ शशिनवांशसखित्वपराङ्मुखाः
 किमलमस्तु गतानुगतं जगत् ॥ २३ ॥
 इति विवाहवृन्दावने मेलकाध्यायस्तृतीयः ॥ ३ ॥

एवं देवलादिमते सत्यपि ये नवांशसख्यव्य-
 वहारं न कुर्वन्ति तेषामनिष्टमाह । ये दैवविदः
 करग्रहे लग्नदृशं विना लवट्टशा नवांशदृष्ट्यैव फलम-
 मंसत । लुब्धि । मन्यन्ते स्म । तेऽपि शशिनवांशसखित्वे
 पराङ्मुखाः किं स्युः । तथाहि--‘ उदयगतनवांशः
 स्वेशदृष्टो युतो वा न भवति यदि मृत्युः स्यात्तदानीं
 वरस्य ’ इत्यादीनि नवांशदृष्ट्यैव लग्नफलं मन्यन्ते ।
 लग्नफलं नवभागे इत्यंशस्य मुख्यत्वात् एव मेलकार्थं
 चंद्रनवांशयोः सख्यं कथं न मन्यन्त इति तेषामनिष्टम् ।

अथेदमलमस्तु दूरं तिष्ठतु तत्कथं जगद्विश्वं गतानुगतं
गतमनुगतं गतानुगतं 'गतानुगतिको लोको न लोकः
पारमार्थिकः' इति कश्चिदित्यज्ञानाद्व्यवहरत् तथै-
वान्यस्तद्वदन्योपीत्यंधपरंपरावदिति भावः ॥ २३ ॥

इति श्रीसकलागमाचार्यश्रीकेशवसांवत्सरात्मजगणे-
शविरचितायां विवाहवृंदावनटीकायां विवाहदीपि-
कायां मेलकाध्यायस्तृतीयः ॥ ३ ॥

अथ नवांशचिन्ताध्यायः ।

नवलवाधिपती उदयास्तयोरनिमिषार्चित-
चांद्रमसायनौ ॥ वरपतिंवरयोः समवैरिणौ
यदितदिष्टफलेष्वपि फलगुता ॥ १ ॥

अथ सूक्ष्मं लग्नादिफलं विवक्षु तावन्नवांशचिन्तां
निरूपयति । तत्रादौ करग्रहोक्तनवांशोपपत्तिव्याजेन
यवनोक्तग्रहमैत्रं संस्थापयति । तथाहि । लग्नं किल भर्तृ-
स्थानं तत्रत्यो नवांशोपि, सप्तमं जायास्थानं तत्रवां-
शश्च तयोः सख्ये वरवध्वोः सख्यम् अतस्सूक्ष्मयोरुद-
यांशास्तांशयोः स्वामिवशात्सख्ये सति वधूवरयोरपि
मैत्रं स्यात् । अतो येषां नवांशानामेवं घटते त एव
नवांशास्तुलाधरादयः पूर्वैः फलितास्ते एव यवनो-
क्तग्रहमैत्रस्यैव स्वीकाराद्घटन्ते । अतो यवनोक्तमेव
ग्रहमैत्रं प्रमाणमिति सिद्धान्तं मनसि मत्वा पूर्वोत्तरप-

शौ रचयति नवलवेत्यादिना श्लोकपङ्केन । अत्रा-
 ध्याये सर्वाणि द्रुतविलंबितानि । उदयास्तयोर्ल-
 ग्नतत्सप्तमगतयोर्नवलवयोरधिपती अनिमिषार्चित-
 चांद्रमसायनौ यदि स्तः । अनिमिषा देवाः तैरर्चितः
 बृहस्पतिः चंद्रमसोऽनंतरापत्यं चांद्रमसायनो बुधः ।
 नैतच्चतुरस्रम् । अनंतरापत्ये फकोऽविधानात् । केचिद-
 पत्यमात्रेऽपि अणादीनिच्छन्ति तदापि न, नडादिष्वपा-
 ठात् पृथग्विधानादर्शनाच्च । एवं सति तस्येदमित्या-
 द्यपि निरस्तम् । यत्तु प्रायश्चित्तस्मृतौ चांद्रायणमिति
 प्रयोगः, तदेवं व्युत्पादितं चंद्रस्य अयनमिवायनं
 चरणं यस्मिन्कर्मणि तच्चांद्रायणम् । संज्ञायां दीर्घः ।
 एवं सोमायनादि । अतो ग्रंथकृता अनंतरापत्ये चांद्र-
 मसायना इति प्रयुक्तस्य गतिमात्रं चिंत्यते । चंद्रमस
 इदं चांद्रमसम् अयनमुत्पत्तिस्थानं यस्यासौ चांद्रम-
 सायनो बुधः । तौ गुरुबुधौ यदि समवैरिणौ स्तः तत्तदा
 वरपतिंवरयोर्वरवध्वोः । पतिं वृणुते सा पतिंवरा । 'संज्ञा-
 यां भृतृवृजिधारिसाहितापिदम' इति खः । खित्त्वान्मुम् ।
 इष्टफलेषु शुभफलेषु फल्गुता निष्फलता स्यात् । एतदुक्तं
 भवति—लग्ननवांशः किल वरस्य स्थानं तत्सप्तमांशो
 वध्वाः अतस्तदधिपयोर्मैत्रे सति तयोः शुभम् । तत्र यदा
 लग्ने धनुरंशः तदा सप्तमे मिथुनांशः अनयोरधिपती
 गुरुबुधौ तौ सत्याचार्यमते ' शत्रू मंदसितौ ' इत्यादिना

मिथः समवैरिणौ भवतः । अतोऽत्र वरवध्वोः शुभं न
स्यात् । तस्माद्धनुरंशो न ग्राह्य इत्यनिष्टं प्राप्तम् ॥ १ ॥

तदुदयद्विपदांशनियामको यवनसौहृदमा-
द्रियतां जनः ॥ इतरथा कथमस्तु करग्रह-
स्तनुफलं हि लवानवलम्बते ॥ २ ॥

अतो यवनमैत्रं ग्राह्यमित्याह । तत्तस्मात्कारणाज्जनो
यवनसौहृदं यवनोदितमैत्रमाद्रियतां स्वीकुरुताम् ।
'ह गतौ' तुदादिः कर्तरि लोट् । सौहृदमित्यस्य गतिः
प्राग्वत् । कथंभूतो जनः उदयद्विपदांशनियामकः । उदये
लग्ने द्विपदांशो नरराश्वंशस्तं नियच्छतीति तथा ।
कर्तरिण्वल् । लग्ने द्विपदांशस्वीकारं नियममिव न मैत्रं
ग्राह्यमित्यर्थः । अन्यथात्वे दोषमाह । इतरथेति । इतरथा
द्विपदांशानङ्गीकारे करग्रहः कथमस्तु अपि तु मास्तु ।
तत्कथं हि यस्मात्कारणात्तनुफलं लग्नफलं लवान् अव-
लम्बते आश्रयते लवाधीनं लग्नफलमिति । अयंभावः—
'लग्नफलं नवभागे' इत्युक्तत्वान्नवांशो मुख्यः स च
द्विपद एव भाव्यः । तथा चोक्तम्—“प्राग्लग्न्ये द्विपदगृहा-
त्कुर्यादन्यांशकोदयो नाशम् ॥ ” इति । अतो द्विपदां-
शादन्यनवांशे वरवध्वोर्नाशविधानात्करग्रहः कथं स्यात्
अतो द्विपदांशनियमे सति उदयास्तांशाधिपयोर्मैत्र्या
भाव्यं सा च धनुर्द्धरांशे यवनोक्त्या लभ्यते अतो
यवनोक्तमेव ग्रहमैत्रमाद्रियतामिति ॥ २ ॥

अथ रिपू यदि नोभयसप्तमौ तदयशः
कलशस्य किमागतम् ॥ द्विपदतां दधतोऽप्ययशः
शुभर्क्षता यदि वृषानिमिषौ किमुपेक्षितौ ॥३॥

अत्राप्यन्यस्याशंकामनूद्य दूषयति । अथ प्रकारा-
तरे । उभयसप्तमौ न रिपू स्तः । समसप्तकयोः
सदा राशिमैत्री अस्त्येव । चतुर्दशमवत् । अतो
धनुर्मिथुनयोर्मैत्रं सदास्तीति यदीदं तदा कलशस्य
द्विपदतां नरतां दधतो विभ्रतोऽप्ययशः अशुभत्वं
किमागतम् । कुंभे हि उत्तरार्धे मनुष्यः उदयास्तांशयोः
सदा समसप्तकत्वान्मैत्रम्, अतः कुंभांशः कथं न
गृहीत इति । अत्रोत्तरम्—अशुभर्क्षतेति । अशुभर्क्षता
पापग्रहभवनत्वं कुंभो हि पापग्रहभवनमतो नोक्त इति ।
अत्र प्रत्युत्तरम्—एवं चेत्तर्हि वृषानिमिषौ वृषमीनौ
किमुपेक्षितौ कथं परित्यक्तौ वृषमीनौ सौम्यभवनत्वेऽ-
पि कथं त्यक्ताविति ॥ ३ ॥

अमनुजाविति चेत्किमु शौनको नवलवं
झपमादृतवान्मुनिः॥शुभग्रहद्विपदास्तलवः
स चेद्भवतु तत्र किमस्तु तुलाभृतः ॥ ४ ॥

अत्रोत्तरप्रत्युत्तराणि । तौ वृषमीनौ । अमनुजौ
मानुषौ न भवतः । तदुदयद्विपदांशानियामक इत्युक्त-
त्वात् । इति चेत्तर्हि शौनको मुनिर्झषं मीनं नवलवं

कथमादृतवान्स्वीकृतवान्-प्रहसितवदना च मीनांशे
इति । मीनो हि जलचरः कथं शौनकेन गृहीत इति ।
अत्रोत्तरम्-स मीनः शुभगृहद्विपदास्तलवः शुभगृहं
द्विपदश्च अस्तलवो यस्य स तथा मीनस्यास्तांशः
कन्या असौ शुभगृहं द्विपदश्च अतो मीनांशः शौन-
केन आदृत इति । अत्र प्रत्युत्तरम् । इति चेत्तर्हि तुला-
भृतः किमस्तु । तुलाधारस्य हि अस्तलवो मेषः स
शुभगृहद्विपदश्च न भवति । अतः कस्मात्तुलाधरः स्वी-
कृत इति ॥ ४ ॥

द्विचरणः शुभभं च नवांशकस्तदयमेक-
तरः परिगृह्यते ॥ इदमसंगतमंग तवेरितं
जगति नैकवशात्किल सौहृदम् ॥ ५ ॥

अत्रोत्तरप्रत्युत्तरे । यद्येवमुक्तं त्वया न तर्हि अयमे-
कतरो नवांशो द्विचरणः शुभभं च परिगृह्यते । उदय-
नवांशास्तनवांशयोरेकतरो नवांशो मनुजः सौम्यगृहं
च गृह्यते, न तु द्वावपीत्यस्माकमाशयः । द्वयोरेकस्य
निर्धारणे तरप् । तुलाभृतो हि अस्तांशो मेषः तयो-
स्तुलामेषयोरेकतरस्तुलाधरः असौ द्विचरणः शुभ-
भं चास्ति अतस्तुलांशो गृहीत इत्यर्थः । अत्रोत्तरम्-
अंगेत्यव्ययं संबोधने । तव ईरितमुक्तमिदमसंगत-
मघटमानम् । कस्मात् । किल यस्मात्कारणाज्जगति
लोके एकवशात्सौहृदं नास्ति । सौहृदं हि उभयगतो

धर्मः । स चैकस्मिन्नेव न घटते । अत एकतरो
गृह्यते इति यदुदीरितं त्वया न तत्संगतमिति । ईरित-
मत्र भावे क्तः । तवेति शेषविवक्षायां षष्ठी । सौहृद-
मित्यस्य गतिः प्राग्वत् ॥ ५ ॥

खचरयोः सखिता यदि कारणं ध्वनति सा
नितरां यवनाध्वनि ॥ कलशसिंहनवांशपश-
त्रुता परिणमत्युभयोरपि शास्त्रयोः ॥ ६ ॥

एवं सर्वविकल्पान्परिहृत्य परिशेषात्फलितं सिद्धा-
तमाह । खचरयोरुदयांशास्तांशस्वामिनोः सखिता मि-
त्रत्वं कारणं वक्तव्यम् । विकल्पांतराणां निरासात्सा यदि
कारणं स्यात्तर्हि सा सखिता यवनाध्वनि यवनमार्गे
नितरामतिशयेन ध्वनति शब्दायते । यवनशास्त्रे प्रसि-
द्धेत्यर्थः । सत्याचार्यमते तु तयोर्मैत्र्यभावात् । अतो
यवनमतमेव प्रमाणमिति भावः । ननु कुंभांशपरित्यागः
सत्याचार्यमते वैरसद्भावादिति चेत्तत्राह—कलशेति ।
कलशसिंहौ च तौ नवांशौ च उदयास्तनवांशौ तौ पात-
स्तौ तत्पौ तदधिपती तयोः शत्रुता वैरत्वमुभयोर्द्वयोरपि
शास्त्रयोः परिणमति परिपाकं प्राप्नोति । शनिमूर्ययोर्वैरं
यवनशास्त्रे सत्यशास्त्रेऽप्यस्ति । अतो यवनमते शत्रुत्व-
सद्भावात्कुंभांशस्त्यक्तः । न तु सत्यशास्त्रवैरसद्भावादिति
भावः । एवमंशे ग्रहमैत्रादिकं विचार्यते तर्हि राशावपि
कथं नावलोक्यत इत्याशंकां परिहरति ॥ ६ ॥

अथ तयोः समसप्तसुहृत्पथः कथमसूक्ष्म-
गतिः स च नैकधा ॥ इह हि लग्नगतान्यनुमे-
निरे तदखिलैः खलखेटगृहाण्यपि ॥ ७ ॥

अथेति । अथानंतर्यै । हि यस्मात्कारणात्तयोर्यवन-
सत्यशास्त्रयोः समसप्तसुहृत्पथः कथमसूक्ष्मगतिः अपि
तु सूक्ष्मगतिरेव । समाश्च ते सप्त च समसप्त । सुहृदां
पथाः सुहृत्पथः “ ऋक्पूरब्धूःपथामानक्षे ” इत्यप्र-
त्ययः । समसप्तानां सुहृत्पथः समसप्तसुहृत्पथः । वरव-
धूस्थानराश्योः सदा समसप्तकत्वादुभयमतेऽपि समस-
प्तकराश्योर्मित्रत्वमार्गः सूक्ष्म एवेत्यर्थः । स च सुहृ-
त्पथः एकधा एकप्रकारो नास्ति तत्कालमैत्रादेरापि
सद्भावात् । उक्तं हि न्यूनामपि’ इत्यादिना । तत्तस्मा-
त्कारणादिहास्मिन्निवाहे अखिलैः यवनादिभिः सत्या-
दिभिश्च खलखेटगृहाणि पापग्रहभवनानि मेषसिंहादी-
न्यपि लग्नगतानि अनुमेनिरे अनुज्ञातानि । अपिः
संभावनायाम् । पापभवनान्यपि शुभानि किं पुनः
शुभभवनानीत्यर्थः ॥ ७ ॥

इतितुलाजितुमप्रमदाधनुष्प्रथमखंडमखं-
डफलं जगुः ॥ सततमस्तपतिद्विषदीश्वरं
नवलवंबलवंध्यपतित्यजेत् ॥ ८ ॥

अथ प्रकृतस्य सिद्धांतमाह-इत्युक्तहेतुभिः सिद्धं
तुलाजितुमप्रमदाधनुष्प्रथमखंडं सततमसवरतमखंड-

फलं पूर्णशुभफलदं जगुर्यवनादयः । तुला प्रसिद्धा जितु-
मो मिथुनः प्रमदा कन्या धनुषप्रथमखंडं धनुषः पूर्वा-
र्द्धम् । द्वैकत्वम् । न खंडं फलं यस्यतत्तथा । तथा हि धनुः-
पूर्वार्धकुंभोत्तरार्धमिथुनतुलाधरकन्याद्विपदाः किलोक्ताः
तत्र धनुषोऽस्तांशो मिथुनः तत्स्वामिनोर्गुरुबुधयोर्यवन-
मते मैत्रम् । अतो धनुरंशः शुभः एवं मिथुनांशोऽपि ।
तुलाया अस्तांशो मेषः तत्स्वामिनोः कुजशुक्रयोः यवन-
मते मैत्रमतस्तुलांशः कुंभः कन्याया अस्तांशो मीनः
तत्स्वामिनोर्गुरुबुधयोर्यवनमते मैत्रमतः कन्यांशः शुभः ।
कुंभस्यास्तांशः सिंहः, तत्स्वामिनोर्मैत्राभावात्कुंभांशो
न शुभः अत एव नवांशाः शुभा अखिलैरुक्ताः । तथा
चाहुः—“प्राग्लग्न्ये द्विपदगृहात्कुर्यादन्यांशकोदयो नाशम् ।
द्विपदेष्वपि कन्यातौलिमिथुनधन्वंशकाः शस्ताः ॥”
इति । अयं ग्रंथकृतोऽभिप्रायः सप्रपञ्चं मया वर्णितः ।
पारमार्थिकत्वे तदर्वाचीनानां नयनावरणमात्रम् । तद्य-
था—यत्त्वया सिद्धांतितं तुलादिपूक्तनवांशेषु उदयास्तां-
शाधिपयोः स्वचरयोः सखिता कारणमिति तर्हि मेषांशः
तदधिपयोः सत्यपि मैत्रे कथं त्यज्यते । अशुभर्क्षत्वा-
दिति चेत्तत्र, वृषांशस्य सत्यपि मैत्रे त्यागात् । अम-
नुजत्वादिति च । तर्हि शौनकेन मीनांशः कथमादृतः
शुभगृहाद्विपदास्तलवः स चेत्तदपि न । तर्हि तुलांशः
कथमाद्रियत इति त्वयैवोच्यते । उदयास्तांशयोरेकतस्ता-

दृशो गृह्यत इति चेत्तदपि न, 'जगति नैकवशात्किल सौहृदम्' इति त्वयैवोपन्यस्तत्वात् । अथ चेत्तवेदमभि-
 प्रेतम्—'उदयाद्विपदांशनियामकः' इति तदपि न 'जगति
 नैकवशात्किल सौहृदम्' इति त्वयैव स्मारितत्वात् ।
 अस्तांशोऽपि द्विपदो भाव्यः । अथ परिशेषात् 'प्राग्लग्ने
 द्विपदगृहात्कुर्यादन्यांशकोदयो नाशम् ।' इत्यागमबला-
 दिदमित्येव वक्तव्यं तर्ह्यस्माकं फलितं मनोभिलषितम्
 आगम एव कथं तुलांशादिषु कारणं तत्स्वीकर्तव्यः ।
 किमर्थं कारणांतरं ग्रहमैत्रं कल्पनीयं कल्पनालाघवात् ।
 शौनकेन मीनांशस्य अमनुजत्वेऽपि स्वीकाराच्च । अतो
 नवांशोक्त्या यवनमैत्रशास्त्रस्य संस्थापनं न संयुज्यते ।
 किमनेन नवलवाधिपती इत्यादिना ग्रंथसंदर्भेण । अत-
 एव वराहः—“ज्योतिषमागमसिद्धं विप्रतिपत्तौ न योग्य-
 मस्माकम् । स्वयमेव विकल्पयितुं किंतु बहूनां मतं व-
 क्ष्ये॥” इति । अतो वराहेण यवनमते केषांचिदेवं मतमित्युक्तं
 सत्योक्तं ग्रहमैत्रं बहुमतमतः सर्वजनेषु प्रसिद्धतरं यवनमैत्रं
 त्वेकदेशीयमतो महद्भिरुपेक्षितं किमर्थमत्र ग्रंथकृतोभि-
 निवेशः, किमपराद्धं च सत्यादिभिः । उच्यते—ग्रंथकृ-
 द्भिः स्वगौरवार्थं किंचिदपूर्वं वक्तव्यं वृथैव महतामप्युक्तिः
 किंचिद्दूषणीयेत्यलं बहूक्त्या । अथैषामप्यंशानां विशे-
 षमाह—अस्तपतीति । अस्तोऽस्तांशः तस्य पातिस्तस्य
 द्विषत् शत्रुः स ईश्वरो यस्य नवांशस्य स तथा । उदया-

स्तांशाधिपयोस्तात्कालिकशत्रुत्वे स नवांशस्त्याज्य
इत्यर्थः । तुलादिषु हि उदयास्तांशाधिपयोः स्वाभाविक-
कशत्रुत्वाभावात् विशेषांतरमाह । बलबंध्येति । बलेन
बंध्यः पतिर्यस्य नवांशस्य स तथा यस्यांशस्य पतिः
स्थानादिबलैर्यदि हीनस्तदा तमपि त्यजेदित्यर्थः ॥ ८ ॥

लवपतिः कुरुते लवलग्नयोः पतिमृतिं त्रि-
वसुव्ययवित्तगः ॥ नवलवास्तपतिः प्रतिहं-
त्यमून्मृगदृशश्च तदस्तभयोस्तथा ॥ ९ ॥

अथोदयास्तशुद्धिमाह । लवपतिः लवलग्नयोस्त्रिव-
सुव्ययवित्तगः पतिमृतिं कुरुते अंशाधिपतिरंशालग्न्याद्वा
तृतीयाष्टमद्वादशाद्वितीयस्थितो भर्तृमृतिं कुरुत इत्यर्थः ।
इयमुदयशुद्धिः । अथास्तशुद्धिः—नवलवेति । नवलवा-
दस्तं सप्तमं तस्य पतिः तदस्तभयोर्लवलग्नयोरस्तभे
सप्तमभवने तयोः तथा तद्वत् त्रिवसुव्ययवित्तगः मृग-
दृशो बध्वा असून्प्राणान्प्रतिहन्ति नवलवात्सप्तमाधीशो
नवांशसप्तमालग्नसप्तमाद्वा त्रिवसुव्ययवित्तगस्तदा बधूं
हन्तीत्यर्थः । ननु पूर्वैर्यवनादिभिर्नवांशाधीशस्य नवां-
शदृष्टौ लग्नदृष्टौ च सत्यामुदयशुद्धिरुक्ता । कथमत्रोक्तं
त्रिवसुव्ययवित्तग इति । उच्यते—“षष्ठं द्वितीयभवनं
द्वादशमेकादशं न पश्यन्ति । स्वस्थानाद्दीक्षन्ते ग्रहा-
स्तथान्यानि भवनानि ॥” इत्यत्र ग्रहस्थानाद्यदेकादशं

तस्माद्ब्रह्मस्तृतीय एव भवति । एवं यत्पष्टं तस्माद्ब्रह्मो-
ष्टम एव । यद्वितीयं तस्माद्वादशः यद्वादशं तस्माद्वितीय
इति । अतो यदुक्तं त्रिवसुव्ययवित्तग इति तद्ब्रह्मादर्शनमे-
वेति न विरोधः । अथान्यैः केवलमत्रादृष्ट्यैवोदयशु-
द्धिरुक्ता--“युतः स्वनाथेन विलोकितो वा नवांशको-
लग्नगतो नराणाम् ॥ निहंत्यनिष्ठानि तथापमृत्युं कल-
त्रसंस्थश्च नितंबिनीनाम् ॥” इति । तदलाभे लग्नदृष्ट्या
वा । “पश्येद्यदांशाधिपतिर्विलग्नं लग्नेऽथ वा स्यादु-
दयांशशुद्धिः । अस्तांशनाथः स्मरभं विलग्नात्पश्ये-
त्तदास्तांशविशुद्धिरुक्ता ॥” इति ॥ ९ ॥

उभयदृक्फलदा बलदाढ्यतो लवदृग्द्वहते
कियदूनताम् ॥ तदिह केवललग्नदृशः फलं
शकलितं कलितं यवनेश्वरैः ॥ १० ॥

अत्र तु लवलग्नयोरिति यौगपद्यमुक्तं तत्कथमि-
त्याह । उभयस्य दृग्भयदृक् । नवांशस्य लग्नस्यापि
या दृष्टिरित्यर्थः । सा फलदा स्यात् । कस्मात् बलदा-
ढ्यतः बलस्य दृढत्वात् लग्नं हि शरीरमंशस्तु तदवय-
वरूपः उभयदर्शने सति सम्यक् फलमिति । अतो
लवदृक् अंशदृष्टिः कियदूनतामुद्रहते धारयति । किं
परिमाणमस्येति कियत् कियच्च तदूनं च तस्य भावः
कियदूनता केवलमंशदृष्टिः किंचिन्न्यूनफलेत्यर्थः ।
तत्तस्मात् कारणादिहास्मिन्निवाहे केवललग्नदृशः

फलं शकलितमर्धितं यवनेश्वरैः कलितं लक्षितं शकलं
संजातमस्येति शकलितम् । अंशदृष्टिं विना केवलाया
लग्नदृष्टेः फलमर्धितं यवनैः प्रोक्तमित्यर्थः ॥ १० ॥

स्पृशति किं न कदाचिददृश्यतामवयवोऽ-
वयविन्यवलोकिते ॥ अमतकेवललग्नदृशां
न तन्मतमतर्कसहं समुपास्महे ॥ ११ ॥

अमुमुक्तमेवार्थं युक्त्या दृढयति । यस्मात्कारणात्
अवयविनि विलोकिते सति अवयवः कदाचिददृश्यतां
किं न स्पृशति । अपि तु अवयविन्यवलोकितेऽपि कदा-
चिदवयवोऽप्यदृश्यतां स्पृशत्येवेति । द्वौ नञौ प्रकृतार्थं
ब्रूतः । दृष्टेऽप्यवयविनि कदाचित्कश्चन तदवयवो न
दृश्यत इत्यर्थः । तत्तस्मात्कारणादमतकेवललग्नदृशां
न मता केवला लग्नदृश्येषां तेषां मतं न अतर्कसहम्,
अपि तु तर्कसहमेव तर्कं सहते तत्तर्कसहं वयं समुपा-
स्महे अनुसरामः । येषां केवललग्नदृष्टिर्न संमता
अपि तु उभयदृक् संमता तेषां मतं तर्कसहं तद्वयं
मन्यामहे इत्यर्थः । यदुक्तं 'उभयदृक्फलदा' इति
तत्र केवललग्नदृष्टिं मन्यमानः पर आक्षिपति ॥ ११

ननु नवांशकमंशपतिर्निजं कलयतीह विल-
ग्नविलोकने ॥ यमवलोकयते स तनोः पृथ-
ग्यदि तदिष्टफलाय जलांजलिः ॥ १२ ॥

ननु इत्यहो । इह विवाहे अंशपतिर्लग्नविलोकने सति निजं नवांशं कलयति पश्यति तस्य लग्नांतत्वात् । अन्यथात्वे अनिष्टमाह । यमवलोकयत इति । नवांशपतिर्यं नवांशमवलोकयते स यदि तनोः सकाशात्पृथगस्ति तदा तदिष्टफलाय तस्य लग्नस्य इष्टफलं तवापि संमतं तस्मै जलांजलिः स्यात् । जलांजलिदानं मृतस्यैव । अतो लग्नफलं गतमेवेत्यर्थः । 'तनुफलं हि लवानवलंबते' इति तवापि संमतं नवांशाधीनं लग्नफलमिति तस्य मज्जनमेव स्यादित्यनिष्टप्रसंजनम् ॥ १२ ॥

अपृथगस्ति स चेन्ननु पश्यता तनुमसावधिपेन निरूपितः ॥ हृदयहारदृशेव मृगीदृशः प्रणयिना तरलस्तरलद्युतिः ॥ १३ ॥

अत्राप्यनिष्टमुभयदृष्टिं मन्यमानः स्वयमाह । ननु अहो स नवांशश्चेदपृथगस्ति लग्नांतर्गत एवास्ति तदा तनुं लग्नं पश्यता अवलोकयता अधिपेन लग्नस्वामिना असौ नवांशो निरूपितो दृष्ट एव स्यात् । 'रूप अवलोकने' चुरादिः । केन क इव ॥ प्रणयः प्रीणनं तदस्यास्तीति प्रणयी प्रियः तरलो हारमध्यमणिः कथंभूतेन प्रणयिना मृगीदृशः अंगनाया हृदयहारदृशा हृदये हारस्तं पश्यतीति हृदयहारदृक् तेन तथा । कथंभूतो मध्यमणिः । तरलद्युतिः तरला चंचला द्युतिर्यस्यासौ तथा प्रियेणांगनाया हारे

दृष्टे सति तदंतरगतो मध्यमणिर्दृष्ट एवेति । तथा लग्नं पश्यता तदधिपेन तदंतरगतो नवांशोऽपि दृष्ट एवेत्यर्थः । अतो नवांशपतिना नवांशो द्रष्टव्य इति यत्त्वयोच्यते तद्वच्यर्थमित्यनिष्टप्रसंजनम् । अतः प्रागुक्तकालमीमांसनाच्चनवांशपतेर्लग्नदृष्टिस्तदंतरगतनवांशदृष्टिश्च विलोकयेति सिद्धम् । ननु लग्नपतिना लग्नं द्रष्टव्यमस्तपतिनास्तललग्नमित्येतदपि केषांचिन्मतमस्ति तदपि दूषयति—१३॥

तनुपतिस्तनुमस्तमथास्तपो यदि न पश्यति नश्यति तत्कृतम् ॥ इति परः परमत्र मते पतल्लवतरौ च तु रौद्र इवाशनिः ॥१४॥

यदि तनुपतिस्तनुं न पश्यति अथ अस्तपो लग्नात्सप्तमाधीशोस्तं लग्नात्सप्तमं न पश्यति तदा तत्कृतं लग्नकृतमस्तलग्नकृतं च शुभं न पश्यति इति परः कश्चिदाह । बत अहो अस्मिन्मते लवतरौ लवस्तरुरिव तरुस्तस्मिन्नौद्र उग्रः शाणोद्घृष्टः अशनिः खड्गः परं पतेत् । परमित्यव्ययमुत्कृष्टार्थे ? । अस्मिन्मते नवांशवृक्षोपरि अत्यर्थं रौद्राऽशनिपातो भवेन्नवांशफलोच्छेदे इत्यर्थः ॥ १४ ॥

जननलग्नभयोर्मृतिशासितुर्मृतिगतस्य च राशिनवांशकाः ॥ तनुगता यदि तत्तनुते वधूरतिलका तिलकाय जलांजलिम् ॥१५॥

एवं सयुक्तिकामुदयास्तशुद्धिमुक्त्वाधुना जन्म-
 राशिलग्न्याभ्यामंशशुद्धिमाह । लग्नं च भं च लग्नभे ज-
 नने लग्नभे जन्मलग्नजन्मराशी तयोर्मृतिशासितुः अष्टम-
 स्थानाधिपतेः मृतिगतस्य ताभ्यामष्टमस्थितग्रहस्य च
 राशीनां नवांशकाः यदि विवाहकाले तनुगता लग्नस्थिताः
 स्युः तदा वधूरतिलका अभर्तृका सती तिलकाय भर्त्रे
 जलांजलींस्तनुते विस्तारयति ददातीत्यर्थः । तिलकः
 शृंगारतिलकः नास्ति तिलको यस्याः सा अतिलका
 विधवेत्यर्थः । तिलक इव तिलकस्त्रिलकः भर्तृतेति
 यावत् । मृतभर्त्रे स्वयमेवांजलिदा । अनेन वध्वा अन-
 पत्यतापि सूचिता । एतदुक्तं भवति—कस्यचिज्जन्मलग्नं
 वृषः जन्मराशिः कर्कः । तयोरष्टमभवने धनुःकुंभौ
 तयोरधिपती गुरुशनी । एतौ नित्यौ कदाचित्तत्र धनुषि
 कुम्भे वा कश्चन ग्रहः स्थितः स चेच्छुक्रः तेषां गुरुशनि-
 शुक्राणां राशयो धनुर्मीनमकरकुम्भतुलावृषाः एष्वन्यत-
 मस्य नवांशो यदि तस्य विवाहे लग्नगतो भवति तदा
 परिणीता स्त्री अनपत्या विधवा भवेदिति । एवं वध्वा
 अपि जन्मलग्नजन्मराशेश्च ॥ १५ ॥

व्यलिवृषं जननर्क्षविलग्नयोभवनमष्टमम-
 भ्युदितं त्यजेत् ॥ सितपुलस्तिमतेन तदी-
 शता तनुसमेति समेति न दूषणम् ॥ १६ ॥

अथाष्टमलग्नदोषं तदपवादं चाह । जननर्क्षविल-
ग्रयोर्जन्मराशिजन्मलग्नयोरष्टमं भवनमभ्युदितमुदयं
गतं विवाहे त्यजेत् । जन्मराशेर्जन्मलग्नाद्वा अष्टमं
लग्नं त्यजेदिति तात्पर्यार्थः । कथंभूतं, व्यलिवृषं वृश्चि-
कवृषव्यतिरिक्तं वृश्चिकवृषावष्टमावपि न त्याज्यावि-
त्यर्थः । अत्र हेतुमाह—सितपुलस्तीति । तयोरलिवृष-
योरीशता स्वामिता तनुसमा यो हि लग्नाधिपतिः स
एव अनयोरिति हेतोः सितपुलस्त्योर्मते दूषणं न
समेति न संगच्छते । तनुरिति राशेरप्युपलक्षणम् । एत-
दुक्तं भवति—वृश्चिकोष्टमो मेषस्यैव भवति यो वृश्चिक-
स्याधिपः स एव मेषस्य एवं वृषोष्टमस्तुलाया एव तयो-
रधिपतिरेक एव अत एकाधिपतित्वात् वृषवृश्चिक-
योरष्टमत्वे न दोष इति । केचित्सुहृत्त्वेपि न दोषमाहुः—
“झषकुलीरवृषालिमृगांगनाजननराशिविलग्रमहाष्टमाः।
शुभफला भृगुणा कथितास्तयोरधिपती सुहृदौ हि
परस्परम्॥” इति ॥ १६ ॥

चरलवं चरवेश्मगमुत्सृजेन्मृगतुलाधरगे
मृगलक्ष्मणि ॥ युवतिरत्र भवेत्कृतकौतुका
मदनवत्यनवत्यजनोन्मुखी ॥ १७ ॥

अथ चरत्रयसंनिपातदोषमाह । चरलवं चरनवांशं च
रवेश्मगं चरराशिलग्नस्थितमुत्सृजेत् परित्यजेत् कस्मिन्

सति मृगलक्ष्मणि मृगतुलाधरगे सति मृगः शशः
लक्ष्म लाञ्छनं यस्यासौ तथा तस्मिंश्चन्द्रे मकरस्थे तुला-
स्थे वेति। चरा मेषकर्कतुलामकराः तत्र कर्कमेषस्थिते चन्द्रे
विवाहनक्षत्राभावात् मृगतुलाधरग इत्युक्तम् । अत्र फल-
माह—युवतिरिति । अत्र योगे कृतकौतुका युवतिः मद-
नवती सती अनवत्यजनोन्मुखी भवेत्, कौतुकं विवाह-
कंकणं कृतं कौतुकं यस्याः सा तथा विवाहितेत्यर्थः ।
न नवः अनवः पुरातनस्तस्य त्यजनं तत्रोन्मुखी उत्सुका
मदनात्ता सती पूर्वभर्तृपरित्यागे उत्कंठिता परपुरुषगा-
मिनीत्यर्थः । केचित्तु वर्गोत्तमे सति नैष दोष इत्याहुः—
'वर्गोत्तमे चरगृहे न चरो नवांशः' इति । अत एवाहुरन्ये-
पि "कर्कलग्नेऽथवा मेषे घटांशो यदि दीयते । तुलायां
मकरे चन्द्रे वैधव्यं लभते तदा " इति ॥ १७ ॥

सुखगृहं सुखहृत्तनुजन्मनोरबलताशबलैः
सुखकर्तृभिः ॥ अपि तयोर्व्ययभं व्ययभं कर्तु
चेद्विगतबाधनका धनकारिणः ॥ १८ ॥
अथ चतुर्थद्वादशलग्नस्य दोषं तदपवादं चाह । तनुश्च
जन्म च तनुजन्मनी तयोस्तनुजन्मनोः जन्मलग्नजन्म-
राश्योः सुखगृहं चतुर्थभवनं तनुगतमित्यनुवृत्तिः ।
सुखहृत्सुखनाशनं स्यात् । कैः सुखकर्तृभिर्ग्रहैः अबल-
ताशबलैः 'कालाच्च' इति सप्तम्यर्थे तृतीया । अबलानां

भावः अबलता तथा शबला मलिनास्तैर्बलरहितैरित्यर्थः ।
 अर्थात्सुखकर्तारो ग्रहा यदि बलिनः न स्युस्तदा जन्म-
 लग्नराशिभ्यां चतुर्थलग्नं सुखदत्त्स्यादिति । अपीति ।
 तयोर्जन्मलग्नजन्मराश्योः व्ययभं द्वादशभवनमपि
 तनुगतं तदा व्ययभं कृत् स्यात् व्ययं भनक्तीति व्ययभं कृ-
 व्ययनाशनं तदा कदा यदा धनकारिणो ग्रहाः विगतबा-
 धनकाः स्युः । विगतं बाधनकं येषां ते तथा बाधारहिताः
 निर्दुष्टा इत्यर्थः । यदा धनदातारो ग्रहाः दोषरहिताः
 स्युस्तदा जन्मलग्नराश्योर्द्वादशं लग्नं व्ययनाशकरं स्या-
 दित्यर्थः । अर्थादेते निर्बलास्तदा एतद्व्ययकरं स्यादिति ।
 तथा च गर्गः—“चतुर्थद्वादशे कार्ये लग्ने बहुगुणान्विते”
 इति । अपि चाकार्ये योगबलाद्द्वादशे चतुर्थे इति ॥ १८ ॥

अशुभकृत्खलगः खलु यौशको जनुरनेह-
 सि नेह सितांशुगे ॥ तनुगतेपि शिवं युवयोष-
 योर्बलवतो लवतो नभयं क्वचित् ॥ १९ ॥

अथ जन्मगृहवशेन नवांशस्य दोषान्तरं तदपवादं
 चाह । जनुषः अनेहा जनुरनेहास्तस्मिन् जन्मकाले
 अंशकः अशुभकृत्खलगो भवति । अशुभं करोतीत्य-
 शुभकृत् स चासौ खलश्च अशुभकृत्खलः तं गच्छतीति
 अशुभकृत्खलगः जन्मकाले दुष्टकारिपापग्रहो यस्मि-
 न्नवांशेस्ति स नवांश इत्यर्थः । इहास्मिन्नवांशे सितांशुगे
 सितांशुं चंद्रं गच्छतीति सितांशुगः तस्मिन् सितांशुगे

तनुगते लग्नगतेपि । अपि वार्थे । युवयोषितोर्वरवध्वोः
शिवं शुभं न स्यात् । वरवध्वोर्जन्मकाले दुष्टकारी पापग्रहो
यस्मिन्नवांशोस्ति स नवांशो यदि विवाहकाले चन्द्रगतो
लग्नगतो वा भवेत्तदा अशुभकृत्स्यादित्यर्थः । इत्यादि-
कस्यांशजनितदुष्टस्यापवादमाह--बलवत् इति । बल-
वतः बलयुक्ताल्लवतौंशात्कचिद्भयं न स्यात् । चेज्जात-
कोक्तेन 'अधिपयुतो दृष्टो वा' इत्यादिप्रकारेण बलवानंश-
राशिस्तदा यस्य कस्याप्यंशजनितस्य दुष्टस्य भयं न
स्यादित्यर्थः ॥ १९ ॥

अनुजनुर्मृतिगो मृतिपश्च यः स तनुगस्त-
नुते न शिवं कचित् ॥ इति विविक्तिरियं
फलदा सदा स इह सिध्यति चेत्समयः
स्फुटः ॥ २० ॥

इति विवाहवृंदावने नवांशचिंता-
ध्यायश्चतुर्थः ॥ ४ ॥

अथ जन्मकालिकग्रहवशेन दोषांतरमाह । जनु-
रनुक्रम्य अनुजनुरव्ययीभावः । अथवा अनुगतो जनुः
अनुजनुः 'अत्यादयः कान्ताद्यर्थे द्वितीयया' इति तत्पुरुषः
"जनुर्जननजन्मानि" इत्यमरः । जन्मकालानुक्रमे-
ण यो ग्रहो मृतिगजन्मलग्नादष्टमः यश्च जन्मलग्ना-
न्मृतिपः अष्टमस्थानाधीशः स ग्रहो यदि विवाहकाले

तनुगतो लग्नगतस्तदा शिवं शुभं क्वचिन्न तनुते न कदा-
चिच्छुभं करोतीत्यर्थः । इतीयं जन्मकालवशेन या
उक्ता विविक्तिः विवेकः, विवेचनं विविक्तिः सा सदा
तदा फलदा स्यात् । तदा कदा चेत्स जन्मकालो
विवाहकालश्च इह काले स्फुटः सिद्ध्यति । यदा घटी-
पलात्मकः स्फुटो जन्मकालो विवाहकालश्च साधितः
स्यात्तदैवेदं सूक्ष्मफलविवेचनं स्यान्नान्यथेत्यर्थः ॥२०॥

इति श्रीसकलागमाचार्यवर्यश्रीकेशवसांवत्सरात्मज-
गणेशविरचितायां विवाहवृन्दावनटीकायां विवाह-
दीपिकायां नवांशार्चिताध्यायश्चतुर्थः ॥ ४ ॥

अथ लग्नबलाध्यायः ।

अरिपराक्रमलाभविनाशगोरवि रविश्रमसौ-
ख्यसुतार्थदः ॥ मदनमूर्तिशयः शयसंग्र-
हे मृगदृशामशनिः शनिराहुवत् ॥ १ ॥

एवं लग्ने नवांशशुद्धिमभिधायाधुनाग्रहबलशुद्धिमाह ।
तत्रादौ लग्नाद्भवेः शुभाशुभस्थानान्याह । अत्रापि द्रुत-
विलंबितवृत्तानि । अरिः षष्ठं पराक्रमस्तृतीयं लाभ एका-
दशः विनाशोष्टम एषु गच्छति तथा लग्नादेषु वर्तमानो
रविः मृगदृशां स्त्रीणां शयसंग्रहे पाणिग्रहे अविश्रमसौ-
ख्यसुतार्थदः स्यात् नास्ति विश्रमो विश्रांतिर्यस्य तद-
विश्रमं तच्च तत्सौख्यं च तद्ददातीति तथा 'पंचशाखः

शयः पाणिः इत्यमरः । शेषेष्वष्टसु स्थानेषु दुष्ट इत्यर्थसिद्धम् ॥ तत्राप्यतिदुष्टस्थानद्वयमाह । मदनैति । मदनमूर्तिशयः अशनिः स्यात् । अतिदुष्टः स्यादित्यर्थः । मदनः सप्तमं मूर्तिर्लग्नं तत्र शेतेऽसौ मदनमूर्तिशयः सप्तमस्थो लग्नस्थोवेत्यर्थः । अशनिरिवाशनिः खड्गः घातक इति यावत् । शनिराहुवत् । यथैषु स्थानेषु शनिराहु तथैव राविरिति शनिराह्वोरपीदमेव फलमिति भावः । अत्र राहुशब्देन केतुरपि गृह्यते । तस्यापि तद्रूपत्वात् । यतो वक्ष्यति च-
“वृत्तपातमपरं खपाततो राहुः” इत्यादि । अत एव स्पष्टमाह श्रीपतिः-
“प्राग्लग्नद्रविनं दनेन शिखिना स्वर्भानुना च क्रमात्” इति ॥ १ ॥

त्रिधनलाभसुखेषु शुभः शशी निधनमूर्तिरिषुष्वतिगर्हितः ॥ अशुभशुक्रसखः स खनत्यसून्दिनकरोनकरो न करोति शम् ॥ २ ॥

अथ चंद्रस्य । त्रयस्तृतीयं धनं द्वितीयं लाभ एकादशं सुखं चतुर्थमेषु शशी शुभः स्यात्, शेषेष्वशुभः । तत्राप्यतिदुष्टान्याह-निधनैति । निधनमष्टमं मूर्तिर्लग्नं रिषुष्वष्टमेष्वतिगर्हितोतिदुष्टः । एतत्प्रसंगेन दोषांतरमाह । अशुभ इति । अशुभश्च शुक्रश्च अशुभशुक्रौ तयोः सखा स तथा “राजाहःसखिभ्यष्टच्” पापयुक्तः शुक्रयुक्तो वेत्यर्थः । असून्प्राणान् खनति प्राणनाशको भवतीति । अर्थाद्बुधयुक्तो गुरुयुक्तो वा शुभः । दोषा-

तरमाह । दिनकरेति । दिनकरोनकरः शं सुखं न करो-
ति । दिनकरेण ऊनाः करा रश्मयो यस्य स तथा अस्तं-
गत इत्यर्थः ॥ २ ॥

अवनिजस्त्रिभवारिषु वृद्धये मृतिकरो मृति-
मूर्तिमदाश्रितः ॥ इह नभोयुजि जीवदृशं
विना च्युतनया तनयामिषभुग्वधूः ॥ ३ ॥

अथ भौमस्य । अवनेर्जातो अवनिजो भौमः त्रिभवा-
रिषु वृद्धये भवति शेषेषु नवसु दुष्टः । तत्राप्यतिदुष्टानि ।
मृतीति । मृतिरष्टमं मूर्तिर्लग्नं मदः सप्तममेतानि
आश्रितः एषु स्थित इति यावत् । मृतिकरः स्यात्
इहास्मिन् भौमे नभोयुजि सति नभसा युनक्तीति
नभोयुक्तस्मिन्नभोयुजि दशमस्थे सति वधूः च्युत-
नया सती तनयामिषभुक् स्यात् च्युतस्त्यक्तो नयो यया
सा तथा अन्यायमार्गवर्तिनी तनयस्यामिषं मांसं भुन-
क्तीति तथा । अस्यापवादमाह—जीवदृशं विना तस्मिन्
दशमस्थे भौमे गुरुणा दृष्टं सति नायं दोष इत्यर्थः ॥ ३ ॥

व्ययगृहं विरहय्य हिमांशुजः सकलवेश्म-
सु वेश्मसुतार्थदः । नियतं विदधाति वधू-
वरं यमकरे मकरैर्गितमृत्युगः ॥ ४ ॥

अथ बुधस्य । हिमांशुजो बुधद्रादशगृहं विरहय्य
पृथक्कृत्य शेषेषु सप्ताष्टमव्यतिरिक्तेषु वेश्मसु स्थानेषु

वैश्वमृहं सुताः पुत्राः अर्थो द्रविणं तत्प्रदः । सप्तमाष्टम-
योस्तु अतिदोषमाह—स नियतमिति । स बुधः मकरेण-
तमृत्युगः वधूवरं यमकरे नियतं विदधाति करोति मक-
रेण इंगितं चेष्टितं यस्य स मकरेणितो मदनः सप्तमं,
मृत्युरष्टमं तत्र गतो बुधो वधूवरं यमहस्ते विदधाति मार-
यतीत्यर्थः ॥ ४ ॥

गुरुरनन्त्यमदेषु मुदं श्रियं सृजति कालगृहे-
गृहभंगदः ॥ अशुभकृन्मकरेपि करग्रहे न
मृगराजगतो जगतो हितः ॥ ५ ॥

अथ गुरोः । अन्त्यं द्वादशमदः सप्तमं ताभ्यामन्यानि
अनन्त्यमदानि तेषु द्वादशसप्तमव्यतिरिक्तेषु स्थितो गुरुः
मुदं हर्षं श्रियं लक्ष्मीं च सृजति ददाति । तत्राष्टमे महादोष-
माह—कालगृह इति । कालो मृत्युः तद्गृहमष्टमं तत्र स्थितो
गुरुर्गृहभंगदः स्यात् । गृहं भार्या तस्या भंगो मृतिस्तत्प्रदः ।
एतत्प्रसंगेन गुरोर्दोषान्तरमाह—अशुभकृदिति । मकरेपि
स्थितो गुरुः करग्रहे अशुभकृत् स्यात् नीचराशिस्थित-
त्वात् । दोषान्तरमाह—न मृगेति । मृगराजः सिंहस्तत्र गतो
गुरुः जगतो विश्वस्य करग्रहे न हितः न शुभः ॥ ५ ॥

सहस्रपत्ननिमीलनमन्मथे प्रथमदेवगुरुर्गु-
रुभीतिकृत् ॥ वहति शेषगृहेषु महोत्सवं
व्ययगतः समतां स मतांतरात् ॥ ६ ॥

अथ शुक्रस्य । सह सहजं तृतीयम्, एकदेशग्रहणेन नामग्रहणात् । सपत्नः शत्रुः षष्ठं, निमीलनं मरणमष्टमं, मन्मथो मदनः सप्तमम् । एषु प्रथमदेवगुरुः गुरुभीतिकृत्स्यात् प्रथमदेवा दैत्याः 'पूर्वदेवाः सुरद्विषः' इत्यभिधानात् । तेषां गुरुः शुक्रः गुरुभीतिर्महाभयं मरणादि तत्कारी भवेत्, शेषगृहेष्वष्टसु स्थानेषु महोत्सवान्वहति प्रापयति ददातीत्यर्थः । तत्र द्वादशे विशेषः--व्ययगत इति । स शुक्रो व्ययगतो द्वादशस्थः मतांतरादन्येषां मते समतां मध्यत्वं वहति । तथा च तद्वाक्यं--“केप्याहु-रन्त्ये शुभदौसितेज्यौ” इति । शनिराहुकेतूनां फलं रवि-वदित्युक्तमेव ॥ ६ ॥

खलकृता तनुरोहिणिमित्रयोर्दुरधरा विधुरां-
कुरुते वधूम् ॥ श्रुतिशरांशमितस्मरमे तयो-
र्ग्रहमपुण्यमपुण्यमिव त्यजेत् ॥ ७ ॥

एवं प्रातिस्विकं भावफलमुक्त्वाधुना कर्तरीलक्षणं विशेषफलं जामित्रफलं चाह । तनुर्लग्नं रोहिण्या मित्रं रोहिणिमित्रं रोहिणीभर्ता चंद्रः “उचापोः संज्ञा०” इति द्वस्वः । तयोर्लग्नचंद्रयोः खलकृता पापग्रहकृता दुरधरावधूं विधुरां विधुक्तां कुरुते । दुरधरा जातके प्रसिद्धा--“उभयस्थितैर्दुरधरा” इति । लग्नाच्चंद्राद्वा द्वितीयद्वादशस्थयो पापग्रहयोः सतोः पापग्रहकृता दुरधरा स्यात् । सात्र कर्तरीत्युच्यते । सा वधूं विधवां कुरुते । अथ जामित्रदो-

षः—श्रुतीति । तयोस्तनुरोहिणिमित्रयोः श्रुतिशरांशं चतु-
ष्पंचाशदंशमितं प्राप्तमपुण्यं पापग्रहं त्यजेत् । किमिव ।
अपुण्यमिव । लग्नं चंद्रो वा यस्मिन्नवांशेऽस्ति तस्माच्चतु-
ष्पंचाशत्तमे नवांशे यदि पापोऽस्ति तं पापग्रहं पातकवहू-
रं त्यजेदित्यर्थः ॥ ७ ॥

क्षिपति सप्त दिनान्युदयास्तयोः सुरगुरुश्च
भृगुश्च गतैष्ययोः ॥ इह युगोपि युगस्य कर-
ग्रहः स्फुटममंगलदो गलदोजसि ॥ ८ ॥

अथ गुरुशुक्रयोर्बाल्यादिदोषमाह । सुरगुरुभृगुश्च
गतैष्ययोरुदयास्तयोः सप्तदिनानि क्षिपति शुभमिति
शेषः । कालनैरंतर्ये द्वितीया । गुरुः शुक्रो वा स्वोदयादनं-
तरं सप्तदिनानि बालः अस्तात्प्राक्च सप्त दिनानि वृद्धः,
क्षिपति प्रेरयाति नाशयतीत्यर्थः । इहास्मिन्युगे युग्मे गु-
रुशुक्रयुगले गलदोजसि सति युगस्य वधूवरस्य करग्रहो
विवाहः स्फुटमत्यर्थममंगलदः स्यात् । 'उल्बणं विशदं
स्फुटम्' इत्यभिधानात् । गलत् ओजो बलं यस्य तद्ग-
लदोजस्तस्मिन्गलदोजसि स्थानादिबलहीने अस्तंगते
नीचस्थिते चेत्यादि सूचितम् ॥ ८ ॥

शिशुजरत्त्वमहान्युदयास्तयोर्दश चतुर्दश-
चांगिरसः स्फुटम् ॥ उशनसो दश पंच च
पश्चिमे गतिवशात्त्रिदशाहमपश्चिमे ॥ ९ ॥

एवं मतांतरात्सामान्येन बालत्ववृद्धत्वे उक्त्वा दिना-
दिकपरत्वेन तयोः सयुक्तिकं विशेषमाह—अंगिरसो
बृहस्पतेः शिशुजरत्वं क्रमेण दश चतुर्दश अहानि स्फुटं
स्यात् । शिशुश्च जरंश्च शिशुजरन्तौ ‘जीनो जीर्णो
जरन्नपि’ इत्यमरः । तयोर्भावः शिशुचरत्वं दश दिनानि
बालत्वं चतुर्दश वृद्धत्वमिति । अत्र स्फुटमित्युक्तेः पूर्वं
साधारण्येनोक्तमिति सूचितम् । उशनसः शुक्रस्य शिशु-
जरत्वं पश्चिमे पश्चिमदिशि क्रमेण दश पञ्च च अहानि
स्यात् । पश्चिमोदये दशदिनं बालत्वमस्ते पञ्चदिनं वृद्ध-
त्वमित्यर्थः । अपश्चिमे पूर्वदिशि त्रिदशाहं स्यात् । त्रयश्च
दश च त्रिदश त्रिदश च तानि अहानि त्रिदशाह-
स्तम् । कालनैरन्तर्ये द्वितीया । अहःशब्दादृच् । “रात्रा-
ह्नाहाः पुंसि” । त्रिदिनं बाल्यं दशदिनं वृद्धत्वमित्यर्थः ।
कस्माद्गतिवशात् । शुक्रस्य वक्रमध्य एव पश्चिमास्तं पूर्वो-
दयश्च भवत्यतोऽर्कस्य प्राग्गतित्वाच्छुक्रस्य पश्चिमग-
तित्वाच्च गतियोगेन तदन्तरवृद्धत्वे सति अल्पदिनैरेव
शुक्रस्योज्ज्वलता स्यात् । अतोऽत्र बालत्ववृद्धत्वम-
ल्पदिनमुक्तम् । पश्चिमोदयपूर्वास्तौ तु मार्गगतावेव
भवतः । अतस्तत्र गत्यन्तरेणांतरवृद्धौ सत्यां बहुदिनै-
रुज्ज्वलता स्यादतस्ते बहुदिनमुक्ते अतोऽत्र हेतुर्गति
वशादिति ॥ ९ ॥

द्युमणिजीवलवोदयशासिनामुडुपतेरिति
पंचबलीं विना ॥ परिणमंति फलानि चल-
भ्रुवां फलविरिंचि विरिंचिकृतान्यपि ॥ १० ॥

एवं लग्नाद्ब्रह्मबलान्युक्तानि तत्र केषामावश्यकत्वं
तदाह । द्युमणिः सूर्यः । जीवो गुरुः । लवोदयौ शिष्टस्तौ
लवोदयशासिनौ अंशपतिलग्रपती तेषां चतुर्णामुडुपते-
श्चंद्रस्य इति पंचबलीं विना चलभ्रुवां फलानि विरिंचि-
ब्रह्मा 'विरिंचिः कमलासनः' इत्यमरः । तेन कृतान्यपि
शुभं विरिंचि परिणमंति । पंचानां बलानां समाहारः
पंचबली । चला चंचला भूर्यासां ताश्चलभ्रुवः स्त्रियः
तासां फलानि विरिंचति तानि फलविरिंचि शुभनाश-
कानि । प्रथमाबहुवचनं 'रिचि विरेके' कर्तरि क्तिप् परि-
णमंति परिपच्यंते । यत्र लग्ने द्युमणिजीवादीनां पंचानां
बलं न लभ्यते तदा स्त्रीणां सर्वाणि फलानि ब्रह्मकृता-
न्यपि शुभनाशकत्वरूपं परिपाकं प्राप्नुवंतीत्यर्थः ॥ १० ॥

व्ययगृहं बुधभार्गवजीवयुग्यदि न तत्कुल-
मित्रजनेष्वपि ॥ कृपणता नरनीरजनेत्रयो-
रिति न शक्रमते क्रमते मतिः ॥ ११ ॥

इति विवाहवृंदा० लग्नबलाऽध्यायः पंचमः ॥ ५ ॥

अथ द्वादशबुधगुरुशुक्राणां मतांतरमाह । व्ययगृहं
द्वादशस्थानम् । यदि बुधभार्गवजीवयुग्न भवति । यद्ये

कोऽपि व्ययस्थाने न भवेत्तदा नरनीरजनेत्रयोः नरो
 वरः नीरजं कमलं तद्वेत्रे यस्याः सा वधूः वरवध्वोः
 कृपणता स्यात् । केष्वपि कुलमित्रजनेष्वपि कुलमि-
 त्राणि कुलपरंपरागतमित्राणि । यद्वा—कुलं पुत्रभ्रात्रादि
 मित्राणि सुहृदः ते च ते जनाश्च तेष्वपि किं पुनरन्येषु ।
 इदं कस्य मतमित्याह—इतीति । इत्येवंविधे शक्रमते
 इंद्रमतविषये अस्माकं मतिर्न क्रमते न चलति । एवंविधे
 इंद्रमतेऽस्माकं बुद्धिः न प्रवर्तत इत्यर्थः । तथा च ऐन्द्र-
 विवाहपटले—“बुधभार्गवजीवानामेकोपि यदि न व्यये ।
 तदौदार्यं न दंपत्योः पुत्रपित्रतिथिष्वपि” इति ॥ ११ ॥

इति श्रीसकलागमाचार्यवर्यश्रीकेशवसांवत्सरात्मज-
 गणेशविरचितायां विवाहवृन्दावनटीकायां विवाहदी-
 पिकायां लग्नबलाध्यायः पंचमः ॥ ५ ॥

अथ चंद्रबलाध्यायः ।

कन्यकावितरणाय पूरुषः पात्रमात्रमिति
 नैदवं बलम् ॥ केचिदस्य वितरंति कोविदाः
 को विदां किल करोतु तन्मनः ॥ १ ॥

एवं लग्नबलमुक्त्वाधुना वधूवरयोश्चंद्रबलविचार
 आरभ्यते । तत्रादौ मतांतरमनूय दूषयति । अत्राध्याये
 रथोद्धतावृत्तम् । कन्यकायाः वितरणं दानं तस्मै कन्या-
 दानाय । पूरुषो वरः ‘पूरुषा पूरुषाः नराः’ इत्यमरः ।

पात्रमात्रं पात्रमेव पात्रमात्रम् इति हेतोरस्य वरस्य
 ऐदवं बलम् इंदोरिदमैदवं चन्द्रबलं केचित्कोविदाः
 बुधाः 'सन्सुधीः कोविदो बुधः' इत्यमरः । न वितरंति
 न ददति । वरः पात्रमात्रमिति हेतोर्वरस्य विवाहे
 चंद्रबलं नावलोक्यमिति केषांचिन्मतं तद्वाक्यं च—
 “नाधिकारो नराणां च विवाहे गर्भशोधने” इति । तेषा-
 मुपहासमाह—को विदामिति । तेषां मनस्तन्मनः किल
 कः विदांकरोतु विचारयतु न कोऽपि तेषां मानसं त
 एव जानंत्वित्यर्थः । “विदांकुर्वत्वित्यन्यतरस्याम्” इत्याम्
 लोटो लोपः लोटंतकृजोऽनुप्रयोगश्च । तेन विदा-
 मित्यामंतमव्ययम्, अतोऽनयोर्व्यवधानेऽपि प्रयोगो
 घटते । यथा रघुकाव्ये—‘तं पातयां प्रथममास पपात
 पश्चात्’ इति ॥ १ ॥

ईदृशं यदि ततः प्रतिग्रहग्राहिणोस्य किम-
 भिप्रपंचितैः ॥ सांशनाडिगणयोनिशुद्धिभि-
 र्जन्मलग्नभवनव्ययाष्टगैः ॥ २ ॥

एवं ये मन्वानास्तेषामनिष्टमाह । ततस्तस्मादुक्तहेतोः
 यदीदृशं पात्रमिति हेतोर्वरस्य चंद्रबलं न दद्यादिति
 तदास्य प्रतिग्रहग्राहिणो वरस्य सांशनाडीत्यादिभिर-
 भिप्रपंचितैः सविस्तरं प्रतिपादितैः किम् । ‘पचि
 विस्तारे’ । प्रतिग्रहं गृह्णातीति प्रतिग्रहग्राही अंश-

अथ नाडिश्च गणश्च योनिश्च तेषां शुद्धयः ताभिः सह
वर्तमानानि तानि तथा । जन्मलग्नभवने ताभ्यां व्य-
याष्टगानि तानि तथा । अयं भावः--यत्त्वयोच्यते वरः
प्रतिग्रहग्राहक एव पात्रमात्रमतोऽस्य नैदवं बलम् । एवं
चेत्तर्हि वरस्य 'पराशरः ग्राह नवांशभेदात्' इत्यादिनां-
शशुद्धिः नाडीयोनिगणानां शुद्धयश्च जन्मलग्नजन्मरा-
शिभ्यां द्वादशाष्टमगतानि लग्ननवांशादीनि सप्रपञ्चं कथं
प्रतिपादितानि इत्यादीनि वरस्य त्वयापि गृह्यन्ते तर्हि
एकं चन्द्रबलं कथं न गृह्यते इति तस्यानिष्टम् ॥ २ ॥

लाग्निको नवलवः पुमंतकृत्स्वामिना यदि
न युक्तवीक्षितः॥ संगमं दिशति दीर्घनिद्रया
पत्युरिन्दुतनुकामगो ग्रहः ॥ ३ ॥

किञ्च अस्य श्लोकद्वयस्य एवमादीत्यनेन संबंधः ।
लग्ने भवो लाग्निकः नवलवो नवांशः यदि स्वामिना
निजाधिपेन युक्तो वीक्षितो वा न, तदा पुंसः अंतः
पुमंतः अंतोऽवसानं तत्कृत् स्यात् । किञ्च संगममिति ।
इन्दुतनु ताभ्यां कामगः सप्तमगो जामित्रस्थितो ग्रहः
पत्युर्भर्तुर्दीर्घनिद्रया मरणेन सह संगमं समागमं दिशति
ददाति 'दिश दाने' । भर्तुर्भरणकृदित्यर्थः ॥ ३ ॥

चंद्रमस्युपचयात्परिच्युते चारुगोचरचरैः
परैरपि ॥ कर्तुरायतिशुभं सभंगुरं निर्दिशं-
त्यसितशौनकादयः ॥ ४ ॥

चंद्रमसीति । चंद्रे उपचयाद्धेः सकाशात्परिच्युते बलहीने सति कर्तुर्वरस्य आयतिशुभमुत्तरकालिकं शुभम् 'उत्तरः काल आयतिः' इत्यमरः । सभंगुरं सभंजनम् । भंजेर्भावे कुरः । विनश्यदिति यावत् । असितशौनकादयो मुनयो निर्दिशन्ति कथयन्ति । कैरपि परैर्भौमादिभिर्ग्रहैश्चारुगोचरचरैरपि चारुश्चासौ गोचरश्च तत्र चरन्ति ते तथा । गोचरे शुभस्थाने स्थितैरपि । अयं भावः--चंद्रे क्षीणत्वादिना बलहीने सति अन्यग्रहाणां गोचरबललाभे सत्यपि वरस्योत्तरकालिनं सर्वशुभफलं नश्यतीत्यसितशौनकादयो जगुः । उक्तं च तैः--
 "न कुर्वीतास्तगे चंद्रे दुःस्थिते जन्मराशितः । क्रूरग्रहयुते तद्वन्मंगलान्यखिलान्यपि" इति ॥ ४ ॥

एवमादिफलवादिनो नृणामैदवं बलमुशन्ति किं न ते ॥ भानुरप्युपचये नृजन्मतो यन्मतोक्तिषु तदिष्टमेव नः ॥ ५ ॥

इत्याद्यनिष्टप्रसंगेन तन्मतं दूषयति । नृणाम् एवमादिफलवादिनः एवमादीनि फलानि पुरुषाणामिच्छन्ति त एकं चंद्रबलं कथं नेच्छन्तीति तेषामनिष्टः अतस्तैरपि वरस्य चंद्रबलं स्वीकर्तव्यमित्यर्थः । यदुक्तं तैः "पुंसां रविबलं ग्राह्यम्" इति तत्स्वीकरोति । भानुरपीति--येषां मते यन्मते उक्तयः यन्मतोक्तयः तासु यन्मतैवचनेषु नृजन्मतः नरस्य जन्मराशेः सकाशाद्भानुरूप-

चये भाव्य इत्यध्याहारः । गोचरे हि भानुरूपचयस्थान
एव शस्तः तन्नोऽस्माकमपि इष्टं संमतमेव । तथा च
तद्वाक्यम्—‘योनिः स्त्रीणां शिशिरकिरणश्चित्रभानुश्च
पुंसाम्’ इत्यादि । अत्र यदुक्तं स्त्रीणामेव चंद्रबलं तन्नि-
राकृतम् । यदुक्तं रविवलमिति, तदस्माकमपीष्टमिति
भावः । अतो वरस्य वध्वा अपि गोचरेण चंद्रबलं रविवलं
च ग्राह्यमिति सिद्धम् । वक्ष्यति च—‘योषितां गुरुपतंग-
गोचरः’ इत्यादि ॥ एवमनिष्टप्रसंगेन तन्मतं निरस्य
युक्त्यंतरेणापि पुनर्दूषयति—॥ ५ ॥

न त्रिवर्गपतिना नरेण चेत्कन्यया शशि-
बलं समाप्यते ॥ दीयते यदिह गोमहीम-
हिष्यादि तर्हि दिश तस्य तद्वलम् ॥ ६ ॥

त्रिवर्गपतिना नरेण शशिवलं न समाप्यते । कन्य-
कृत्वा समाप्यते लभ्यते । त्रिवर्गपतिनोति हेतुगर्भम् ।
धर्मार्थकामानां स्वामिना पुरुषेण कन्याद्वारा यदि
चंद्रबलं प्राप्यते तर्हि इह विवाहसमये यत् गोमहीमहि-
ष्यादि दीयते तर्हि तद्वलं तेषां गोमहीमहिष्यादीनां
यच्चंद्रबलं तत्तस्य वरस्य दिश देहि । गौर्धेनुः मही
क्षेत्रवाटिकादिः महषी प्रसिद्धा । आदिशब्देन दासी-
दासशय्यादीनां ग्रहणम् । यदि पात्रमात्रमिति हेतोः
कन्याया यच्चंद्रबलं तदेव वरस्य तर्हि गवादिकं यद्दीयते
तस्यापि यच्चंद्रबलं तदपि वरस्य भवेदित्यातिप्रसंगः ।

यद्वाऽयमन्वयः—चेत्रिवर्गपतिना नरेण शशिवलं न
समाप्यते न प्राप्यते यदि कन्यया समाप्यते तर्हि इह
विवाहे यद्वादिकं दीयते तस्य गवादेस्तद्वलं तस्य चद्रस्य
बलं दिशत्यतिप्रसंगः । यच्च परमते—‘योनिः स्त्रीणां
शिशिरकिरणः’ इत्यादि तदनुवदन्दूषयति ॥ ६ ॥

इंदुरिंदुवदनानुगं बलं यच्छतीह युवतिग्रहो
यतः॥ सन्नृणामपि कथं षडष्टगः खंडयत्य-
यममून्प्रसूतिषु ॥ ७ ॥

इंदुश्चंद्रमाः इंदुवदनानुगं बलं यच्छति ददाति इंदु-
रिव वदनं यस्याः सा इंदुवदना तामनुगच्छतीति
इंदुवदनानुगम् अंगनानुसारं यत इंदुः युवतिग्रहः स्त्रीग्रहः
तस्मात्तद्वलं स्त्रीणामेव न तु नराणामिति चेत्तर्हि अयं
चंद्रमाः प्रसूतिषु जन्मकालेषु षडष्टगः सन्नृणां पुरुषा-
णामपि असून्प्राणान्कथं खंडयति । अयमर्थः—चंद्रमाः
स्त्रीग्रह इति कृत्वा विवाहे स्त्रीणामेव चंद्रबलं ग्राह्यं
तर्हि तेनैव हेतुना जन्मकाले षष्टाष्टगेन चंद्रेण नृणाम-
रिष्टं न कार्यं, तच्च तेषामप्यस्ति । अतो वरस्यापि
चंद्रबलं ग्राह्यमिति सिद्धम् ॥ ७ ॥

होरयाऽपि हिमरश्मिराहतः पुंस्फलेषु सुन-
फानफादिषु ॥ अत्रिराह बहुलेऽपि तारकां
तारकापतिबले बलीयसीम् ॥ ८ ॥

एवं न केवलं पुरुषफले जातके चंद्रः स्वीकृतः किंत्वन्येष्वपीत्याह । होरया जातकेन हिमरश्मिरा-
हतः स्वीकृतः । केषु सुनफानफादिष्वपि पुंस्फलेषु योगेषु
पुंसां फलं येषां ते तथा । “रविवर्जं द्वादशगैरनफा चंद्रा-
द्वितीयगैः सुनफा” इत्यादिषु चंद्रयोगेषु अन्येष्वपि
चंद्रकृतेषु राजयोगादिष्वपि जातकेन पुरुषफले चंद्रः
स्वीकृत इत्यर्थः । अतो वरस्यापि चंद्रबलं विलोक्य-
मिति सिद्धम् । अथ कृष्णपक्षे केचित्तरां बलीयसीमा-
हुस्तद्विषयमुपन्यस्यति । अत्रिरिति । बहुले कृष्ण-
पक्षेऽपि तारकापतेश्चंद्रस्य बले सति तारकां बलीयसीम्
अत्रिर्मुनिराह—कृष्णपक्षेऽपि न केवलं तारा बलीयसी
किंतु तारकापतिबले सति । अतः कृष्णपक्षेऽपि चंद्र-
बलालाभे सति ताराबलं न प्रमाणमिति मुनेराशयः ॥८॥

प्रोषिते विकलवर्ष्मणि प्रिये तोलिलिः स्त्रिय-
मियेष कार्यिणीम् ॥ अस्तु किं तु न पति-
प्रतीपतां सान्यथा घटयितुं पटीयसी ॥९॥

अथ मतांतरं दूषयितुमुपन्यस्यति-विकलं वर्ष्म शरी-
रं यस्यासौ विकलवर्ष्मा ‘शरीरं वर्ष्म विग्रहः’ इत्यमरः ।
तस्मिन्विकलशरीरे प्रोषिते प्रवासं प्राप्ते वा प्रिये भर्त-
रि सति तोलिलिर्मुनिः स्त्रियं कार्यिणीम् इयेष ऐच्छत्
कार्यं विद्यते यस्याः सा कार्यिणी कार्यकर्त्री ‘अत इ-
निठनौ’ इति मत्वर्थे इनिः । कृत्प्रत्ययात्तस्य निषेधेऽपि

कचिद्विधानात् । कृष्णपक्षे चंद्रस्य क्षीणशरीरत्वात्
वनस्पत्यादिषु प्रोषितत्वाच्च तत्पत्न्यास्ताराया एव बलं
मुख्यमिति भावः । एतदभ्युपेत्य दूषयति । अस्तु किंत्विति ।
तारा कार्यिणी अस्तु तर्हि किंतु सा तारा अन्यथा प्रका-
रांतरेण पतिप्रतीपतां भर्तुरभिप्रेताद्वैपरीत्यं घटयितुं न
पटीयसी न समर्था । अतिशयेन पटुः पटीयसी सा, स्वयं
कर्त्री भवतु परं तु भर्तृप्रतिकूलकार्ये न क्षमेत्यर्थः । अतः
कृष्ण पक्षे चंद्रबलाभावे ताराबलं न ग्राह्यमिति सिद्धम् ९ ।

क्रौर्यमेति बहुले स केवलं नैव नश्य-
तितमाममां वसन् ॥ नास्ति चैष यदि तत्र
तत्कथं तत्कृता जनिषु रिष्टरौद्रता ॥ १० ॥

अथ कृष्णपक्षे नष्टचंद्र इत्युच्यते तद्विषयमाह—स
चंद्रमाः बहुले कृष्णपक्षे केवलं क्रौर्यमेति अमां वसन्
सन्नेव नश्यतितमाम् । क्रूरस्य भावः क्रौर्यम् । अतिशयेन
नश्यतितमाम् आख्यातदाम् आमन्तत्वादव्ययम् । कृष्ण-
पक्षे चंद्रः क्रूरत्वमेव प्राप्नोति क्षीणत्वात् दर्शे तु वर्तमान-
श्चंद्रो नातितरां नश्यति किंतु अदृग्गोचरे एव अतो नष्ट
इत्युच्यते । यद्वा—अमावसन्निति पाठः । तत्र अमेत्यव्ययं
सहाय्ये । ‘अमा साकं समं सह’ इत्याभिधानात् । सूर्येण सह
वसन्नित्यर्थः । एष चंद्रः तत्र अमायाम् अमासमीपे च
यदि नास्ति अतितरां नष्टो भवति तदा जनिषु जन्मका-
लेषु तत्कृता तेन चंद्रेण कृता रिष्टरौद्रता कथं स्यात् ।

रिष्टस्य रौद्रता उग्रत्वं रिष्टस्य अतिशयता यदि तत्र चंद्रस्य सर्वथा अभावस्तदा तज्जनितमत्युग्रमरिष्टं कथं स्यात् । अतोऽमायां नैव नश्यतीति किंतु प्रकाशहीन-
स्तिष्ठतीति । ग्रहगणिते प्रत्यक्षमप्यस्ति यदि स नष्टो भव-
ति तदा तत्कृतं सूर्यग्रहणं कथं स्यादित्यादि ॥ १० ॥

पार्श्वगे निजपतौ कुटुंबिनी दुर्बलऽपि
तदभीष्टकार्यकृत् ॥ तारकाऽपि शशिनोऽ-
नुकूलता संभवे भवति पक्षपातिनि ॥ ११ ॥

इति विवाहवृन्दावने चंद्रबलाऽध्यायः षष्ठः॥६॥

अथ सिद्धांतमाह । दुर्बलेऽपि निजपतौ स्वभर्तरि पार्श्वगे
समीपवर्तिनि सति कुटुंबिनी कुटुंबनिर्वाहिका तत्पत्नी
तदभीष्टकार्यकृत्स्यात् । तस्य भर्तुर्थदभीष्टं कार्यं तदेव
करोति न तु तत्प्रतिकूलम् । एवं तारकापि शशिनश्चंद्र-
स्यानुकूलतासंभवेऽनुकूलत्वालाभे सति पक्षपातिनि
अनुकूलत्वं विलोक्यमित्यर्थः । अतः कृष्णपक्षेपि
चंद्रबलसद्भावे ताराबलं ग्राह्यमिति सिद्धम् । तथा चाहुः-
“चंद्रस्य सर्वदा बलमसिते ताराबलं ग्राह्यम्” इति ॥ ११ ॥

इति श्रीसकलागमाचार्यवर्यश्रीकेशवसांवत्सरात्मजगणे-
शविरचितायां विवाहवृन्दावनटीकायां विवाहदी-
पिकायां चंद्रबलाध्यायः षष्ठः ॥ ६ ॥

अथ राहुसत्ताध्यायः ।

यद्वराहमिहिरो न राहुरित्याह तांडवितबा-
हुरुच्चकैः ॥ संहितास्मृतिसहायिनी वहत्य-
त्रतत्पथविमाथिनी श्रुतिः ॥ १ ॥

अथ केचिद्ब्रह्मत्वं राहोर्न मन्यन्ते तदर्थं स्वकौशलं
दर्शयन्नाहुसत्ताध्यायं वदति । तत्रादौ वराहोक्तमागम-
प्रामाण्येन दूषयति । एतदारभ्य त्रयोदश रथोद्धतावृ-
त्तानि । यद्वराहमिहिरो न राहुरित्याह राहुर्नास्तीति
ब्रूते । कथंभूतः उच्चकैस्तांडवितबाहुः । उच्चैरेवोच्चकैः
'अव्ययसर्वनाम्नामकच् प्राक्टेः' इत्यकच् । तांडवं नृ-
त्यविशेषः तांडवं जातं ययोस्तौ तांडविनौ तौ बाहू य-
स्यासौ तथा उच्चैर्नर्तितबाहुः । सोपहासमिदं विशेषणम् ।
अत्रास्मिन्विषये तत्पथविमाथिनीसंहिता स्मृतिसहायि-
नी श्रुतिर्वहति, तस्य पंथास्तत्पथः 'ऋक्पूरब्धुःपथामा-
नक्षे' इत्यप्रत्ययः । तं विमथ्नाति तथा तस्य वराहस्य यो
मार्गस्तस्य भंगकर्त्रीसंहिताश्च स्मृतयश्च ताः सहायाः
सन्ति अस्याः सा तथा संहितास्मृतिसंहिता श्रुतिर्वहति
प्रसिद्धास्तीति यावत् । राहुर्नास्तीति वराहेण यदुक्तं तत्सं-
हितास्मृतिश्रुतिभिरागमैर्विरुद्धमिति भावः । तद्यथा-
वराहेण वृक्षस्य स्वच्छाया' इत्यादिना एवमुपरागकार-
णमुक्तमिदं दिव्यदृग्भिराचार्यैः राहुरकारणमस्मिन्नित्यु-
क्तः । शास्त्रसद्भावादिति 'योऽसावसुरो राहुः' इत्यादिना

च ग्रहणे राहुर्न कारणमिति प्रतिपादितम् । तद्विरुद्धाः
 संहिता-‘जिह्वावलेढिपरितस्तिमिरतुदोपमंडलं यदि स-
 लेहम्’ इति । ‘अशनिभयसंप्रदायी पाटलिकुसुमोपमो
 राहुः’ इत्यादयः । स्मृतयश्च-“ सर्वं भूमिसमं दानं सर्वं
 ब्रह्मसमा द्विजाः । सर्वं गंगासमं तोयं राहुग्रस्ते निशाकरे”
 इति । ‘सर्वेषामेव वर्णानां सूतकं राहुदर्शने’ इत्यादयः ।
 श्रुतयश्च । तत्र माध्यंदिनी श्रुतिः--‘स्वर्भानुर्हतो आसुरिः
 सूर्यं तमसा विव्याध’ इति । अथर्वश्रुतौ हंसोपनिषदि च-
 ‘सोहं घनमिति घनमिति किलिकिलिलक्ष्यराहोः शिरमा-
 च्छादयति । भाछिन्नं पाप्मा वै छाया रजनीरूपापाप्मा-
 नं करो दुराधर्षयति घृणीविरश्मि विरेचयति पृथ्वीमाच्छा-
 दयति दीप्तिमाच्छादयति द्यूतिमाच्छादयति’ इत्यादयः ।
 एतत्स्वकौशलदर्शनाय ग्रंथकृतः पांडित्यमात्रम् । यतो
 राहुर्नास्तीति वराहो न ब्रूते किंतु ग्रहणे सौ न कारण-
 मिति न च्छादक इत्यर्थः । अस्य स्मृत्यादिविरोधोपि
 तेनैव परिहृतः-“योऽसावसुरो राहुस्तस्य वरो ब्रह्मणा पुरा-
 ज्ञप्तः । आप्यायनमुपरागेदत्तहुतांशेन तेन वै भविता ॥
 तस्मिन्काले सान्निध्यमस्य तेनोपचर्यते राहोः” इत्या-
 दिना च । अत्र वराहोक्तिः सम्यगेव ॥ १ ॥

नैर्ऋती दिगियमस्य दिक्पतेर्ध्यानदानव-
 लिभिः फलाप्तये ॥ वेदम चास्य शशभृद्विमं-
 डलक्रांतिमंडलमिथश्चतुष्पथम् ॥ २ ॥

अथ राहोरस्तित्वे प्रमाणांतराण्याह—अस्य राहो-
र्दिक्पतेर्दिशाधिपतेरियं प्रसिद्धा नैर्ऋती दिगस्ति 'प्राच्या-
दीशा रविसित' इत्यादिना राहोनैर्ऋती दिक्प्रसिद्धा ।
किंच अयं ध्यानदानबलिभिः फलाप्तये अभीष्टफलसिद्धये
भवति । तत्र ध्यानं ब्रह्मयामलादौ—“करालवदनः खड्ग-
चर्ममाली वरप्रदः” । इत्यादि । दानं गोमेदादि बलयः
पूजाः कृष्णपुष्पोपहाराद्यैस्तैः फलाप्तये भवति । एभिः
प्रमाणैः राहुरस्तीति भावः । ननु यथान्येषां ग्रहाणां क्रांति-
वृत्ते मेषादिगृहेषु भ्रमणमस्ति तद्वदस्य नास्तीति चेत्त-
त्राह । वेश्म चेति । अस्य राहोः शशभृद्विमंडलक्रांति-
मंडलमिथश्चतुष्पथं वेश्म चास्ति चत्वारः पंथानः समा-
हृता इति चतुष्पथम् । द्विगोः क्लीबत्वं पूर्ववदप्रत्ययः ।
विमंडलं विक्षेपमंडलं नामैकदेशेन नामग्रहणम् । शश-
भृतः विमंडलं च क्रांतिमंडलं च तयोर्मिथः परस्परं चतु-
ष्पथं शशभृद्विमंडलक्रांतिमंडलमिथश्चतुष्पथं चंद्रस्य
शरवृत्तक्रांतवृत्तयोर्यः संपातश्चतुष्पथरूपस्तदेवास्य स्था-
नमित्यर्थः । तच्चलनेन अस्यापि चलनं सिद्धं तदेव चंद्र-
स्य शरपातस्थानं ग्रहगणिते प्रसिद्धम् ॥ २ ॥

सौंधकारचरतां ब्रह्मन्महीच्छायया विशति
सोममंडलम् ॥ दीपितापरदलैर्दुमंडलच्छा-
यया सह च सूर्यमंडलम् ॥ ३ ॥

ननु “दिग्देशकालावरणादिभेदान्न च्छादको राहुरिति
 ब्रुवन्ति” इति ग्रहगणिते प्रत्यक्षं तद्विरुद्धाः स्मृत्यादयः
 संतस्तत्समाधानमाह-स राहुरंधकारचरतां वहन्स-
 न्महीच्छायया सह सोममंडलं विशाति अंधकारे चर-
 तीति अंधकारचरस्तस्य भावस्तथा । भूच्छाया किलां-
 धकाररूपिणी, सोप्यंधकारचरः अतस्तत्साहित्येन
 चंद्रमंडलं विशाति आच्छादयतीत्यर्थः । दीपितेति ।
 अंधकारचरतां वहन्संदीपितापरदलेंदुमंडलच्छायया
 सह सूर्यमंडलं च विशाति । दीपितमपरदलमुपरिस्थि-
 तदलं यस्य तत् दीपितापरदलं तच्च तर्दिदुमंडलं च तस्य
 च्छाया तथा । दर्शे किल चंद्रस्योर्ध्वदलं प्रकाशमतौ-
 धकाररूपस्य चंद्रमंडलाधोभागस्य च्छायया सह
 सोप्यंधकाररूपः सूर्यमंडलं प्रविश्य च्छादयतीति ।
 अनेन गोलगणितस्य स्मृत्यादीनां च विरोधः परिहृतः ।
 तथा चोक्तं गोलाध्याये--“राहुः कुभामंडलगः शशांकं
 शशांकगश्छादयतीनर्बिबम् ” इति ॥ ३ ॥

वृत्तयोः पतनमेव पात इत्याहुरत्र किल
 राहुरीक्षते ॥ आपतंतममृतद्युतिं सुधास्नान-
 दानहवनांशलालसः ॥ ४ ॥

ननु शरवृत्तक्रांतिवृत्तयोः संपाते कथं राहुरस्तीति
 तत्राह-पतनं पातः वृत्तयोः शरवृत्तक्रांतिवृत्तयोः पतनमेव
 पात इत्याहुर्गोलविदः । यतो वृत्तयोः संपातस्ततः पात

इत्युच्यते। अत्र पाते स्थितो राहुः आपतंतमागच्छंतममृत-
द्युतिं चन्द्रमसमीक्षते ग्रहीतुमवलोकते । किलेत्यागमे ।
तमेवागमं विशेषणद्वारेणाह। सुधेति । सुधा अमृतं सुधा च
स्नानदानहवनं च तेषामंशो विभागस्तत्र लालसस्तत्परः।
अत्र संपाते स्थितो राहुरमृतांशोर्ग्रहणनिमित्तस्नानदानमं-
त्राश्च ब्रह्मवरप्रदानान्मम भविष्यंतीति चिंतयन्नमृतद्युतिं
ग्रहीतुमीक्षत इति भावः । चंद्रो हि अमृतद्युतिः राहुश्च
सुधालालसः अतस्तं ग्रहीतुमीक्षत इति युक्तम् । रवि-
ग्रहेऽपि चंद्रच्छायासांनिध्यमस्त्येव । ब्रह्मवरप्रदानादिकं
ब्रह्मपुराणादौ प्रसिद्धम् । अत आगमात्तत्र संपाते राहुर-
स्तीति भावः । एतदेवोक्तं वराहेण—“योऽसावसुरो राहु-
स्तत्र वरो ब्रह्मणा पुराज्ञतः॥ आप्यायनमुपरागे दत्तहुतां-
शेन तेन वै भविता” इत्यादि ॥ ४ ॥

सैहिकेयगृहतामुपेयुषोर्द्वरगो वियति वृत्त-
पातयोः ॥ ग्रासमेति न रविर्न चंद्रमा गृह्यते
स खलु पार्श्वगस्तयोः ॥ ५ ॥

एवं चेत्तर्हि प्रतिपर्वणि ग्रहणं कथं न स्यात्तत्राह--
सिंहिकाया अपत्यं सैहिकेयो राहुस्तस्य गृहं तस्य भावः
तां सैहिकेयगृहतामुपेयुषोः उपेयतुरित्युपेयिवांसौ तयो-
रुपेयुषोः । इण् गतौ । ‘उपेयिवाननाश्चाननूचानश्च’ इति ।
क् संपातो निपातः वृत्तपातयोः शरवृत्तक्रांतिवृत्तसंपात-

योर्दूरगो रविर्वियति आकाशे स्थितः ग्रासं नैति न प्राप्नोति । न च चंद्रमा ग्रासमेति । तयोर्वृत्तपातयोः पार्श्वगः समीपवर्ती स रविश्च खलु निश्चितं गृह्यते राहुणेति शेषः । यद्वा—कर्मकर्तरि रूपम् । एतदुक्तं भवति—शरवृत्तक्रांतिवृत्तयोः द्वौ किल संपातौ एकश्चंद्रपातस्थानं द्वितीयस्तत्सप्तमं चेति । ते द्वे अपि राहुस्थाने । एकं राहोरपरं केतोश्चेति । तयोर्दूरगो रविश्चंद्रो वा ग्रासं नैति शरबाहुल्यात् । शरो हि राहुचंद्रबिंबमध्ययोरंतरमतो मानैक्यार्धादूने शरे सत्येव ग्रहणं न त्वधिके' एतद्ब्रह्मगणिते प्रसिद्धम् ॥ ५ ॥

राशिवृत्तवसतिः स सूर्यवद्भावगोचरफलैर्न हीयते ॥ रिष्टभंगजननैकनायको हौरिकैरपि स कैर्न कीर्त्यते ॥ ६ ॥

एवं गणितेन राहुसद्भावं प्रतिपाद्य अधुना संहिताजातकाभ्यामप्याह—स राहुः सूर्यवद्भावगोचरफलैर्न हीयते यतोऽसौ राशिवृत्तवसतिः । राशिवृत्ते क्रांतिवृत्ते वसतिः स्थानं यस्य स तथा । सूर्यो हि क्रांतिवृत्तेऽस्ति तत्र राहुरपि चंद्रपातत्वात् । अतः संहितासु सूर्यस्य यादृशानि भावफलानि तादृशानि राहोरप्युक्तानि अतो राहोर्भावगोचरफलसद्भावाद्वाहुरस्तीति भावः । एवं जातकेऽपि । रिष्टभंगेति । स राहूरिष्टभंगजननैकनायको भंगश्च

जननं च भंगजनने रिष्टस्य भंगजनने रिष्टभंगजनने तयो-
रेकश्चासौ नायकश्च स तथा । होरां विदंति ते हौरिकाः तैः
कैर्न कीर्तितः । अपि तु स राहुः सर्वैर्जातकविद्भिः रिष्ट-
भंगस्य रिष्टजननस्य च एक एव कर्त्ता कीर्तित एव । त-
द्यथा—“राहुश्चतुष्टयस्थो मरणाय निरीक्षितो भवति
पापैः ।” इत्यादीनां रिष्टजननानाम् अजवृषभकर्किलग्ने
रक्षति । ‘राहुः समस्तपीडाभ्यः’ इत्यादीनां च कर्त्ता
ग्रहांतरानपेक्ष एक एव कीर्तितः अतोऽसावपि जातके-
नापि स्वीकृत इति भावः ॥ ६ ॥

एष शेषखगपाततुल्यतां नैति चंद्ररविपर्वग-
र्वितः ॥ जातकादिषु यथेतुमंदिरात्किं तथा
न फलमन्यराशितः ॥ ७ ॥

नन्वसौ किल चंद्रपातस्तस्य चेद्गृहत्वं तर्हि भौमादि-
पातानामपि कथं न गृहत्वमिति अत्राह—एष चंद्रपातः
शेषखगानां भौमादीनां ये पातास्तत्तुल्यतां नैति न प्रा-
प्नोति । यतोयं चंद्ररविपर्वणा गर्वितः चंद्ररविग्रहणकर्तृत्वेन
गर्वं प्राप्तः यतस्तस्य संनिहितावेव चंद्राकौ ग्रासं प्राप्नुतः
न त्वितरेषाम् अतोऽसावन्यपातसाम्यं न प्राप्नोतीत्यर्थः ।
किंच जातकादिषु जातकसंहितास्वरशाम्बयामलादिषु
यथा इंदुमंदिराच्चंद्रराशेः फलं तथान्येषां भौमादीनां रा-
शितः फलं नास्ति अतो यथा सर्वत्र फलानि चंद्रराशेस्तथा
तत्पातराशेरपि, अतश्चासौ शेषपातसाम्यं नैति ॥ ७ ॥

वृत्तपातमपरं स्वपाततो राहुरेति समयात्स्व-
यंभुवः॥ मंदिरं तदपि तस्य तद्गतस्त्यज्यते
जगति दिव्यरिष्टवत् ॥८॥

एवं प्रथमे संपाते राहुस्थितिमुक्त्वा द्वितीयेऽपि त-
त्स्थितिमाह-चंद्रस्य शरवृत्तक्रांतिवृत्तयोः संपात एव
चंद्रपातस्तद्राहोः स्थानमिति किलोक्तं तस्मात्पङ्क-
तरे द्वितीयः संपातस्तमपरं वृत्तपातं राहुरेति गच्छति
तत्राप्यस्ति तल्लोके केतुरुच्यते तदपि राहोः स्थानम् ।
कस्मात् स्वयंभुवो ब्रह्मणः समयात्वरस्य संकेतात् 'स-
मयः शपथाचारकालसिद्धांतसंविदः' इत्यमरः । संपात-
द्वयस्यापि समीपवर्तिनोश्चंद्रार्कयोर्ग्रहणसंभवः । अतो
ब्रह्मवरप्रदानात् संपातद्वयेऽपि राहोरवस्थितिरागमसिद्धा
तद्गतस्तस्मिन्द्वितीयसंपाते गतो राहुर्जगति इह लोके
दिव्यरिष्टवत्त्यज्यते । दिवि भवं दिव्यं तच्च तद्रिष्टं च त-
द्गतम् । दिव्यान्यरिष्टानि ग्रहनक्षत्रजानि तेषु मुख्यं दिव्यं
केतुः । अतोऽत्र दिव्यरिष्टशब्देन केतुर्गृह्यते । द्वितीयसं-
पाते गतो राहुरेव लोके केतुनाम्ना त्यज्यत इति भावः ।
यतो ब्रह्मपुराणादिषु विष्णुना सुदर्शनच्छिन्नं राहोः शिरो
राहुरपरं केतुरित्युक्तम् । अत एकमेव शरीरं द्विधाभूतं
राहुकेतुसंज्ञमिति ॥ ८ ॥

पातवद्गतिवशेन शीतगोरुच्चमस्तु फलदं
किलेति चेत् ॥ अस्तु किं तु न हि तन्निवे
शितं राहुवद्ग्रहपदे विरिञ्चिना ॥ ९ ॥

ननु एष शेषस्वगेत्यादिना यदुक्तं सर्वग्रहेषु मध्ये फ-
लदातृत्वे चंद्रस्य मुख्यत्वात्तस्यापि फलदातृत्वं तर्हि
तदुच्चस्यापि तत्कथं न भवेदित्यनूद्य परिहरति—शीत-
गोः उच्चं फलदं किलास्तु । किंवत् पातवत् । केन हेतुना
गतिवशेन । यथा प्रागुक्तं चंद्रस्य फलदातृत्वमुख्यत्वात्त-
त्पातस्य फलदातृत्वं गतिसद्भावात् । तद्वदुच्चस्यापि ग-
तिसद्भावात्फलदातृत्वं किलास्त्विति भावः । इति चेद-
स्तु । तर्हि किंतु हि यस्मात्कारणात्तदुच्चं विरिञ्चिना ब्रह्म-
णा ग्रहपदे ग्रहपंक्तौ न निवेशितं न स्थापितम् । उच्चस्य
ब्रह्मवराभावान्न फलदातृत्वमिति भावः ॥ ९ ॥

किंच गोलगणितानि यन्महीमध्यकेंद्रम-
धिकृत्य तेनिरे ॥ तद्गतः शशिनमीक्षते
स्फुटं व्युच्चहेतुमपि पातवर्त्मनि ॥ १० ॥

एवं चंद्रोच्चस्य फलदातृत्वमागमाभावान्निरस्य
गोलयुक्त्यापि दूषयति । किंच युक्त्यंतरेणापि
दूषणमस्ति । यत् गोलगणितादीनि कक्षावृत्तादीनि
महीमध्यकेंद्रं महीमध्ये “वृत्तस्य मध्यं किल केंद्रमुक्तम्”
इतिसिद्धांतोक्तेः तत् अधिकृत्य प्राथम्येन धृत्वा तेनिरे

विस्तृतानि कर्मकर्तरि रूपम् । यतः सर्वेषां कक्षावृत्तना-
 डिकावृत्तादीनां मध्यं भूगर्भं एव तद्गतस्तस्मिन्भूगर्भे
 स्थितो नरः पातवर्त्मनि पातमार्गे स्थितं स्फुटं शशिनं
 व्युच्चहेतुमीक्षते पश्यति । अपि एवार्थे । विगतः उच्चहेतु-
 र्यस्यासौ तथा । उच्चस्य हेतुं विनापीत्यर्थः । एतदुक्तं
 भवति । फलभंग्या कक्षावृत्तस्य भूगर्भो मध्यं, प्रतिवृत्तस्य
 मध्यं भूगर्भादंत्यफलज्यांतरे तत्र प्रतिवृत्ते मध्यमचंद्र-
 स्तदुच्चं च तन्मध्ये चंद्रकेंद्रं, कक्षावृत्ते तु स्फुटचंद्रः तत्रैव
 तत्पातश्च । उक्तं च—“चंद्रस्य कक्षावलये हि पातः” इति ।
 अतो भूगर्भस्थो द्रष्टा कक्षावृत्ते स्फुटचंद्रं पश्यति तत्रैव
 तत्पातश्च अतोऽनयोरेकवृत्तचारित्वाच्चंद्रवशेन तत्पात-
 स्यापि फलदातृत्वं न तूच्चस्य । अत उक्तं व्युच्चहेतुमिति ।
 एतद्व्रथकृतोक्तं जनानां व्यामोहनमात्रं वास्तवं तु नैतत् ।
 तथा हि यद्यपि प्रतिवृत्तस्य नीचोच्चवृत्तस्य वा यदुच्च-
 स्थानं तदेवोच्चमित्यस्ति तथाप्युच्चहेतुं विना कक्षावृत्ते
 स्फुटचंद्रदर्शनं कथं स्यात् । स्फुटचंद्रस्य कारणमुच्चं
 भवत्येव । उक्तं च सूर्यसिद्धांते । “अदृश्यरूपाः कालस्य
 मूर्तयो भगणाश्रिताः ॥ शीघ्रमंदोच्चपाताख्या ग्रहाणां
 गतिहेतवः” इत्यादि । अतो व्युच्चहेतुमिति यदुक्तं तत्र
 चतुरस्रमिति प्रतिभाति । अत एव युक्त्यंतरं वक्ष्यति ।
 अर्कमर्कजेत्यादि । अथ यदुक्तं गतिवशेन तद्द्रव्यन् अन्य-
 पातानां फलदातृत्वासंभवं प्रतिपादयन् चंद्रस्य फलगौ-
 रवं द्रव्यति ॥ १० ॥

अत्र ये न विकलादलार्धमप्यह्नि यांति
फलमस्तु किं ततः ॥ तावदेव फलगौरवं
गतिर्यावतीत्यधिफलः कलानिधिः ॥ ११ ॥

अत्र ये भौमादीनां पाताः विकलादलार्धं विकलाया
दलं तदर्धमपि अह्नि दिवसे न यांति न गच्छन्ति तेभ्यः
फलं किमस्तु अपि तु नास्तु । न हि ते वर्षशतेनापि
कलामात्रं चलन्ति । अतो यावती गतिस्तावदेव फलगौ-
रवम् । यथा यथा गतिरधिका तथा तथा फलगौरवम् ।
अल्पकालेनैव फलवैचित्र्यात् इति हेतोः कलानिधि-
श्चंद्रमाः सर्वग्रहेभ्योऽधिफलः आधि अधिकं फलं यस्या-
सावाधिफलः अन्यग्रहाणां गतियोगोपि चंद्रगतिसमो
न स्यादतोऽसावाधिकफल इति भावः । तथा चोक्तम्-
“एकतस्तु ग्रहाः सर्वे एकतः शशलांछनः । ततोधिकतर-
श्चंद्रस्तस्माच्चंद्रं परीक्षयेत्” इति ॥ ११ ॥

किंच गोलगणितेषु जिष्णुजः सोमरोमक-
मयादयोऽपि च॥ पर्ययेण ननु राहुपातयो-
र्नामनी विदधुरेव तांत्रिकाः ॥ १२ ॥

अत्र यः असंपातः स एव राहुरित्यर्थे प्रमाणांतरफ-
लमाह-किंच प्रमाणांतरमप्यस्ति जिष्णुजो ब्रह्मगुप्तः
सोमः प्रसिद्धः रोमको मुनिः मयो मयासुरः आदिशब्दे-
न पितामहवसिष्ठादीनां ग्रहणम् । ननु एते तांत्रिकाः

शास्त्रप्रणेतारः राहुपातयोर्नामनी पर्ययेणैव विदधुः पा-
तपर्यये राहुशब्दं प्रयुजते घटकलशवत् । तथा चोक्तं
'कुमुदिनीपतिपातो राहुमाहुरिह केपि तमेव' इति । अतो
यः पातः स एव राहुरिति सोमरोमकादीनामुक्तेर्वृत्तसंपा-
त एव राहुरित्यर्थः ॥ १२ ॥

अर्कमर्कजकुजार्यतुंगतां किं नयंति यदि
तत्पृथग्भवेत् ॥ कल्पना तदियमुच्चमुच्चर-
न्कोपि रोपितफलं न च श्रुतः ॥ १३ ॥

ननु पात एव राहुर्भवतु उच्चस्य फलदातृत्वाभावे
किमायातं तत्र व्युच्चहेतुमिति कारणमुपन्यस्तं तदपि
सूक्ष्मदृष्ट्या विचार्यमाणे संदिग्धमित्याशंकां मनसि
धृत्वा तन्निरासे युक्त्यन्तरमाह—तदुच्चं यदि पृथग्भवेत्फल-
दातृत्वे स्वतंत्रं भवेत्तर्हि सोमरोमकादयः अर्कजकुजार्य-
तुंगतामर्कं किं नयंति आर्यो गुरुः अर्कजकुजार्याणां तुंगं
तस्य भावस्तथा शनिभौमबृहस्पतीनां शीघ्रोच्चं सूर्य
एवेति कथं वदंतीति । यद्येषां सूर्य एव शीघ्रोच्चं तदा तस्य
फलदातृत्वे पृथक्त्वं न स्यात् । तत्तस्मात्कारणादियं क-
ल्पना उच्चं हि कल्पनामात्रं मंदफलानि साधनायेति ।
उक्तं च गोलाध्याये—“यः स्यात्प्रदेशः प्रतिमंडलस्य
दूरे भुवस्तस्य कृतोच्चसंज्ञा । सोपि प्रदेशश्चलतीति त-
स्मात्प्रकल्पिता तुंगगतिर्गतिज्ञैः” इति । अत उच्चस्य क-
ल्पनामात्रत्वान्न फलदातृत्वं तर्हि पातोपि शरसाधनाय

कल्पनामात्रं कथं तस्यापि फलदातृत्वं भवेदित्याशंका-
यामाह—उच्चमुच्चरन्निति । उच्चं रोपितफलमुच्चरन् कथयन्
कोपि न श्रुतः, रोपितं फलं यस्मिन् तत्तथा उच्चस्य फलं
कुत्रापि न श्रुतं तस्य फलश्रवणाभावात्कल्पनामात्रत्वमि-
ति भावः । अतः पातस्य ग्रहत्वं युक्तम् । उच्चस्य फलदा-
तृत्वाभावे ग्रंथकृता किमर्थमेतावत्प्रपञ्चितम् । पर्यवसानं
आगम एव । अतः प्रथमत एव तत्रागमाभावः
कारणं कथं न वक्तव्यमिति ॥ १३ ॥

राहोर्नाहोरात्रवर्षाधिपत्यं सत्यं सर्वव्योम-
गानामधीशौ ॥ यस्य छाया पुष्पवंतौ
पिनष्टि कास्ते तस्य स्वामिताया विनष्टिः १४
ननु दिनादेराधिपत्यं तस्य पातस्य कथं नास्तीति
तत्राह । शालिनी वृत्तम् । अहो राहोरहोरात्रवर्षाधिपत्यं
नास्ति अहोरात्रं वारः वर्षं वत्सरः तौ मासहोरादीनामुप-
लक्षणं तेषां स्वामित्वं राहोर्नास्तीति सत्यं सत्यमेवेति
व्यंग्योक्तिः । तथापि सर्वव्योमगानाम् अधीशौ पुष्पवंतौ
चंद्रार्कौ यस्य राहोः छाया पिनष्टि चूर्णयति 'पिष पेपणे' ।
तस्य राहोः स्वामिताया विनष्टिः विनाशः कास्ते न कु-
त्रापीति । 'एकयोक्त्या पुष्पवंतौ दिवाकरनिशाकरौ' इ-
त्यमरः । ग्रहाधीशौ चंद्रार्कौ यस्य छायामात्रं विह्वलयति
तस्य स्वामित्वं नास्तीति वक्तुं न शक्यते, अतः पारंपर्येण
दिनवर्षादीनामप्याधिपत्यं तस्यास्त्येवेति भावः ॥ १४ ॥

प्रतिदिनं स्वचरः प्रचरन् फलं किमपि य-
च्छति चारफलो हि सः ॥ ग्रहणऋक्षग
एव स चेन्न किं चलति किंचिदुपप्लव एव
तत् ॥ १५ ॥

अथ गतिवशात्फलमिति प्रतिपादयन् राहोर्गतिस-
द्भावे प्रमाणमाह । द्रुतविलंबितम् । स्वचरः प्रतिदिनं
प्रचरन् सन् किमपि फलं यच्छति हि यस्मात्कारणा-
त्स स्वचरः चारफलः चारेण गत्या फलं यस्यासौ तथा ।
यस्मात्स्वचरः चारफल इत्युच्यते तस्माद्यथायथा यो ग्रहः
चलति तथा तथा किमपी फलं यच्छतीत्यर्थः । स राहुः
ग्रहणऋक्षग एवास्ति ग्रहणे नक्षत्रे स्थित एवास्ति “ऋ-
त्यकः” इति प्रकृतिकत्वम् । विपक्षे प्रत्यक्षबाधमाह—स
चेदिति । स राहुः चेद्ग्रहणर्क्षगो नास्ति तर्हि उपप्लवः
किंचित् किं चलति । उपप्लवो ग्रहणम् । एतदुक्तं भवति—
ग्रहणे राहुसान्निध्यमस्त्येवेति प्राक् प्रतिपादितं, ग्रहणं
हि किंचित्प्रतिमासं सार्धैकभागप्रमाणेति षण्मासैर्न-
वभागैः पृष्ठतश्चलत्येव तत् एकं ग्रहणं यस्मिन्नक्षत्रे दृष्टं
तत्परं तत्पृष्ठनक्षत्रे तत्परमपि तत्पृष्ठनक्षत्रे इति प्रत्यक्षं
दृश्यते अतो ग्रहणचलनं सैव राहुगतिः । ग्रहणेवश्यं
तत्सान्निध्यात् । अतश्च राहोर्गतिसद्भावात् ग्रहत्वं
फलदातृत्वं च सिद्धम् ॥ १५ ॥

उदयमेति यदा दिवि तत्परं चरति केतुर-
पि प्रतिवासरम् ॥ भवति न ग्रह एव गतिं
विना जगति कर्मविपाकवदावदः ॥ १६ ॥

एवं राहोर्ग्रहत्वादिकं संस्थाप्यानयैव युक्त्या के-
तोरपि ग्रहत्वं संस्थापयति । द्रुतविलंबितम् । यदा दि-
वि आकाशे तत्परं तस्य राहोः परं पश्चिमकायः उदय-
मेति तदा केतुरपि प्रतिवासरं चरतीति स्यात् । एतदुक्तं
भवति-वृत्तपातमपरमित्यादिना राहोः षड्धांतरे यो द्वि-
तीयः संपातस्तस्य गृहं स केतुरिति प्रतिपादितं तत्सन्नि-
धावपि यद्ग्रहणं तदपि प्राग्वच्चलति अतः केतोरपि गतिः
सिद्धा गतिसिद्धौ सत्यां ग्रहत्वं फलदातृत्वं च साधयति-
भवतीति । गतिं विना ग्रह एव न भवति । कथं भूतः जग-
ति इह जने कर्मविपाकवदावदः कर्मणो विपाकस्तं वद-
तीति कर्मविपाकवदावदः । पचादित्वादच्चा “चरिचालिप-
तिवदीनां वा द्वित्वमच्याक् चाभ्यासस्य” इति द्वित्वम-
भ्यासस्यात्वं च । यस्य हि गतिरस्ति स एव ग्रहो भवति
अतोऽसौ पूर्वकर्मविपाकजनितस्य शुभाशुभस्य सूचको
भवेत् तस्मात् केतोरपि ग्रहत्वं फलदातृत्वं च सिद्धम् १६ ॥

परिहरंत्युपरागपरागतं तम उपप्लव एव स
किं ग्रहः ॥ इति मणित्थवचांसि विवृण्वता
मतमतक्षयत भोजमहीभुजा ॥ १७ ॥

ननु ग्रहणे तम एव प्रत्यक्षं दृश्यते स कथं ग्रहो भवे-
दिति परमताशंका भोजराजेन दूषितेत्याह । द्रुतविलंबि-
तम् । उपरागे ग्रहणे परागतं प्राप्तं तमः उपप्लवो रिष्ट-
मेवेति परिहरन्ति त्यजन्ति स किं ग्रहः स ग्रह एव न भव-
तीति । तथाहि—चंद्रार्कयोर्ग्रहणे स्वाभाविकदीप्तेरवरोधकं
प्रत्यक्षं यत्तमो दृश्यते तदुत्पात एव, प्रकृतेरन्यत्वमुत्पात
इत्युक्तत्वात् । परिवेषादिवत् । अतस्तत्तम उत्पात एवेति
परिहरन्ति आचार्या इति यन्मतं तत् मणित्थवचांसि
विवृण्वता मणित्थवाक्यानां विवरणं कुर्वता भोजमही-
भुजा भोजराजेन अतक्ष्यत अच्छिद्यत । ‘तक्षू तनूकरणे’
कर्मणि लङ् । एतन्मतं मणित्थवाक्यविवरणे भोजराजेन
निराकृतमित्यर्थः । तद्यथा—उत्पातो हि गणितागतान्नो-
पलभ्यते ग्रहणं हि सम्यगुपलभ्यते अतो नोत्पातः ।
किंच उत्पातो हि दोषविशेषेण यत्र कचन दृश्यते चंद्र-
ग्रहणं तु सर्वदेशे अतश्च नोत्पात इति गणितागतप्रत्य-
क्षम् । आगमश्च ब्रह्मणो वरप्रदानादि ग्रहचारे तत्फलक-
थनं च लोके प्रसिद्धिश्च “राहुकृतं ग्रहणं स्यादागोपालां-
गनादिसिद्धमिदम्” इति ब्रह्मगुप्तः । अन्या अपि पुरस्ता-
दुक्ता युक्तयश्च इत्यादिप्रमाणैस्तन्मतं भोजराजेन निरा-
कृतमिति भावः ॥ १७ ॥

अथाप्यसौ केवलवांसिनायां नायाति सिद्धिं
तदपि प्रियं नः ॥ अवासनं किं न सुरधुरा-
त्रमर्कायनाभ्यां भवतैव भेजे ॥ १८ ॥

नन्वागमप्रामाण्येन राहोः सिद्धिरस्ति परं तु दिग्देश-
कालावरणादिभेदैर्गोलवासनायां सिद्धिर्नास्तीति तत्राह ।
उपजातिका । अथापि यद्यपि असौ राहुः केवलाया-
मेकस्यामेव गोलवासनायां सिद्धिं नायाति तदपि नोऽ-
स्माकं प्रियं, मास्तु गोलवासनया सिद्धिः तत्कथम्
अर्कायनाभ्यां सूर्यस्योत्तरदक्षिणायनाभ्यां सुराणां
देवानां द्युरात्रमहोरात्रमवासनं वासनाबाह्यं भवता
त्वयैव किं न भजे किं न स्वीकृतमपितु स्वीकृतमेव ।
द्यु इत्यव्ययं दिनवाचकमिति क्षरिस्वाम्यादयः । एतदुक्तं
भवति-मेरुगतानां देवानां नाडिकामंडलं क्षितिजं तस्मा-
दुपरि स्थिताः क्रांतिवृत्ते मेषादयः षड्राशयो दृश्याः
तुलादयः षट् अधःस्थिताः अदृश्याः अतो मेषादिष-
ड्राशिस्थितेर्के देवानां दिनं तुलदिस्थिते रात्रिरिति द्युरात्रं
गोलवासनासिद्धम् 'शिशिरपूर्वमृतुत्रयमुत्तरं ह्ययनमाहुर-
हश्च तदामरम्' इत्यादिना पुराणादिषु उत्तरायणं दिनं
दक्षिणायनं रात्रिरित्यागमस्य विरोधभयादिदं वासना-
बाह्यमपि द्युरात्रं त्वयापि स्वीकृतमतोऽस्माभिरप्येकमि-
दमवासनमागमभयात्स्वीकृतमिति भावः ॥ १८ ॥

सिद्धांतपक्षस्तु परं दिनार्धान्निशा निशार्धा-
त्परतो दिनश्रीः ॥ एवं पुराणे गणिते च सा-
म्यमर्कायनाभ्यां सदसत्फलेषु ॥ १९ ॥

अथानयोर्विरोधं परिहरति । उपजातिका । सिद्धांत-
पक्षस्त्वयं सिद्धांतस्यायमाशय इति । दिनार्धात्परं नि-
शा, निशार्द्धात्परतो दिनश्रीर्दिनलक्ष्मीर्दिनमेवेति यावत् ।
एवं सत्यर्कायनाभ्यां सकाशात्सदसत्फलेषु विषये पुरा-
णे गणिते च साम्यं स्यात् । एतदुक्तं भवति—गणिते
किल कर्कसंक्रमे दिनार्धं तत्परं रात्र्युन्मुखत्वाद्वात्रि-
रित्युच्यते, एवं मकरसंक्रमे निशार्धं तत्परं दिनोन्मुख-
त्वाद्दिनमेवेति । तथा च सिद्धांते विरोधपरिहारः—“दिनं
सुराणामयनं यदुत्तरं निशेतरत्सांहितिकैः प्रकीर्तितम् ॥
दिनोन्मुखेर्के दिनमेव तन्मतं निशा तथा तत्फलकीर्त-
नाय तत्” इति ॥ १९ ॥

कर्कं गतेर्के हि सुरापराहः फलं पुनः रात्रि-
वदाहुरस्य ॥ नक्रं गते चापररात्रमेषामे-
तत्परं वासरवत्स्मरंति ॥ २० ॥

अथैतदेव स्पष्टयति । उपजातिका । व्याख्यातप्राय-
मेतत् । हि यस्मात्कर्कं गते अर्के सति सुराणां देवाना-
मपराहः स्यात् । अहः अपरमपराहः दिनोत्तरार्द्धम्
अस्य फलं पुनः फलं तु रात्रिवदाहुः । नक्रं मकरं गते
अर्के सति एषां देवानामपररात्रं स्मरंति रात्रेः अपरम-
पररात्रः । “अहःसर्वैकदेश—” इत्यच् ॥ “रात्राह्वाहाः
पुंसि” इति पुंस्त्वम् । एतत्परमेतस्मात्परं वासरवत्स्म-
रंति संहिताकारादयः ॥ २० ॥

अतश्च कैश्चिद्दशमीष्वपि प्राक्कापालिको वे-
धविधिः किलोक्तः ॥ मासोन्य एवं नियमव्र-
तादौ पित्र्ये निशार्धे सति पौर्णमास्याम् २१ ॥

अस्य दृढीकरणार्थमेतद्वृष्टान्तमन्यत्राप्याह । उपजा-
तिका । किलेत्यहं तर्के अतश्च हेतोः दशमीष्वपि प्राक् पूर्वं
कापालिको वेधविधिरुक्तः । निशार्धादिनार्धपर्यंतं प्रा-
क्कपालं दिनार्धात्रिशार्धपर्यंतं पश्चिमकपालं ग्रहगणिते
प्रसिद्धं तयोः कपालयोर्भवः कापालिकः । अयं भावः—
“दशमीशेषसंयुक्तो यदि स्यादरुणोदयः ॥ वैष्णवैस्तु न
कर्तव्यं तद्दिनैकादशीव्रतम् ॥” इत्यादिवाक्यैररुणोदये
दशम्या विद्वैकादशी यथा वैष्णवैस्त्यज्यते तद्वत्कैश्चि-
न्निवादित्यसंप्रदायिभिरर्धरात्रे दशम्या विद्वैकादशी त्य-
ज्यते । अर्धरात्रादुपरि उत्तरदिनप्राप्ते तद्वाक्यं च—“अ-
र्धरात्रेपि केषांचिद्दशमीवेध इष्यते” अतश्च धर्मशास्त्रे पि-
त्र्याशौचातिवादिषु केचिदर्धरात्रादुपर्युत्तरदिनामिच्छन्ति ।
अतश्च “विष्टिरंगारकश्चैव व्यतपातश्च वैधृतिः ॥ प्रत्य-
रिर्जन्मनक्षत्रं मध्याह्नात्परतः शुभम् ॥” इत्यादिवाक्या-
नामवकाशः । अपि च—मासोन्य इति । एवमनेनैव हेतुना
पौर्णमास्यां पित्र्ये निशार्धे सति नियमव्रतादावन्यो
मासः स्यात् पितृणामिदं पित्र्यं “पितुर्यत्” नियमा-
चातुर्मास्ये शाकदधित्यागादयः, व्रतानि कार्तिकव्रतादी-

नि तेषामारंभः पूर्वमासस्य पौर्णमासीमारभ्यैव यतस्तत्र
 पितृणां निशार्धं, तथाहि चंद्रस्योर्ध्वभागे वसंतः पितरः
 स्वमस्तकोपरि दर्शं सूर्यं पश्यन्ति अतस्तत्र दिनार्धम्, एवं
 पौर्णमास्यां सूर्यस्य अधोर्धस्थितत्वादधरात्रः कृष्ण
 पक्षाद्धे सूर्योदयः शुक्लपक्षार्धेस्तमय इति पित्र्यमानस्य
 वासनया सिद्धान्ते प्रसिद्धम् ॥ २१ ॥

तदिति विद्यत एव स किं परै रुधिरबिंदुवपु-
 विलसन्ति ये ॥ त इह तामसकीलककेतवः
 स्वपितृराहुसमर्थनहेतवः ॥ २२ ॥

अथ राहुसद्भावे प्रमाणांतरमाह । द्रुतविलंबितम् ।
 तत्तस्मादिति हेतोः स राहुर्विद्यत एव परैरन्यैर्हेतुभिः कि-
 म्, अन्ये हेतवस्तिष्ठन्तु तमेव हेतुमाह—रुधिरेति। रुधिरबि-
 दुवपुः तथा तथा ये तामसकीलककेतवो विलसन्ति ते
 स्वपितृराहुसमर्थनहेतवः स्युः। रुधिरस्य बिंदवो यस्मिन्-
 स्तरुधिरबिंदु तच्च तद्रूपश्च तत्तथा वपुः शरीरं तामसकी-
 लकाश्च ते केतवश्च ते तथा । स्वश्चासौ पिता च स्वपि-
 ता तस्य समर्थनं संस्थापनं तत्र हेतवस्ते तथा । तामस-
 कीलकाख्या ये केतवस्ते राहुसुता इत्युक्तत्वात्तेषां केतूनां
 पिता राहुरस्तीत्यर्थः । तथा चोक्तं वराहसंहितायाम्—
 “क्षतजानलानुरूपास्त्रिशूलताराः कुजात्मजाः षष्टिः ।
 नाम्ना च कौकुमारास्ते सौम्याशासंस्थिताः पापाः ॥

त्रिंशद्व्यधिका राहोस्ते तामसकीलका इति ख्याताः ।
रविशशिगा दृश्यन्ते तेषां फलमर्कवच्चोक्तम्” इति ॥२२॥

यः पर्वगस्तस्य गतिर्न दृष्टा सैव ग्रहत्वेपि
महत्प्रमाणम् ॥ विलोमगामी विधुपात एव
तस्माद्ग्रहो राहुरिति प्रतीतः ॥ २३ ॥

इति विवाहवृंदावने राहुसत्ताध्यायः सप्तमः ॥७॥

राहोर्ग्रहत्वं प्रागुक्तप्रमाणेन भङ्ग्यन्तरेण द्रढयति। उप-
जातिका । यः पर्वगो ग्रहणगो राहुस्तस्य गतिः साक्षान्न
दृष्टा किं त्वनुमानेन ग्रहणक्रक्षग एवेत्यादिना । अतो
गतिरस्तीत्यनुमानसिद्धं सैव गतिर्ग्रहत्वे महत्प्रमाणं हि
यस्मात्कारणादेव विधुपातो राहुर्विलोमगामी सदा वक्र-
चारी अस्ति । यथा चंद्रार्कौ सदानुलोमगामिनौ तथैवायं
सदा विलोमगामीति । तथा च भूपालः—“राहुकेतू सदा
वक्रौ शीघ्रगौ शशिभास्करौ” इति । तस्माद्ग्रहो राहुरिति
प्रतीतः प्रत्ययं प्राप्तः । एतद्वाक्यं ग्रंथकृतो न भवतीति
प्रतिभाति। ‘प्रतिदिनखचर’ इत्यादिना पौनरुक्त्यापत्तेः ।
तदिति विद्यत इत्यनेनाध्यायसमाप्तिप्रतीतिश्च ॥ २३ ॥

इति श्रीसकलागमाचार्यवर्यश्रीकेशवसांवत्सरात्मज-
गणेशदैवज्ञविरचितायां विवाहवृंदावनटीकायां वि-
वाहदीपिकायां राहुसत्ताध्यायः सप्तमः ॥७॥

अथ षड्गोर्गध्यायः ।

कृत्वा लग्नादर्कवद्रात्रिखंडं भूयो व्यक्षैस्त
 द्वटीभिर्विलग्नम् ॥ चक्रार्धोने ते च तत्काल
 एव जायेयातामस्तमध्याह्नलग्ने ॥ १ ॥

अथ षड्गोर्गध्यायानि विवक्षुस्तावत्तन्वादिभावान-
 यनं जातकशास्त्रीयमप्यत्र सौकर्यार्थमाह । नव शालिनी-
 वृत्तानि । लग्नादर्कवद्रात्रिखंडं कृत्वा तस्य घटीभिर्भूयः
 पुनर्व्यक्षैर्लग्नं कार्यं, तद्यथा—लग्नमेव सूर्यं प्रकल्प्य अय-
 नांशान्दत्त्वा तस्माच्चरं कृत्वा रात्रिदलं कार्यं तमिष्टकालं
 प्रकल्प्य तस्मात्सायनांशलग्नालंकोदयैर्भोग्यादिकं कृ-
 त्वा लग्नं कार्यमिति । अर्थात्तच्चतुर्थलग्नं स्यात् ते द्वे लग्ने
 चक्रार्धोने षड्गान्म्यूने कार्ये एवं ते तत्कालमस्तमध्याह्न-
 लग्ने क्रमेण जायेयातामुत्पन्ने भवेताम् ॥ १ ॥

लग्नं तुर्याच्चतुर्थमस्ताद्विशोध्यं मध्यादस्तं
 मध्यमैर्द्रीविलग्नम् ॥ शेषत्र्यंशान्द्विर्द्विरा-
 द्येषु दद्यादेवं भावाः संधिरेतद्वलैक्यम् ॥ २ ॥

लग्नं तुर्याच्चतुर्थलग्नाच्छोध्यं तुर्यमस्तात्सप्तमलग्न
 च्छोध्यमस्तं मध्यादशमलग्नाच्छोध्यं मध्यमैर्द्रीविलग्न
 च्छोध्यम् । इन्द्रस्येयमैर्द्री पूर्वा दिक् तत्र विलग्नं तदेव
 लग्नमित्युच्यते । तस्मान्मध्यं शोध्यम् । शेषाणां चतु-

र्णामपि पृथक्पृथक्त्र्यंशानाद्येषु लग्नादिषु द्विद्विवारं
दद्यात् । एवमुना प्रकारेण भावाः स्युः । तद्यथा—लग्नं
चतुर्थाद्विशोध्य तस्य त्र्यंशे लग्ने दत्ते द्वितीयभावो
भवेत् । पुनरपि तस्मिन् त्र्यंशे द्वितीयभावे दत्ते तृतीय-
भावो भवेत् । एवं तुर्यमस्ताद्विशोध्य तत्र्यंशे तुर्ये द्वि-
दत्ते पंचमषष्ठौ भावौ स्तः । एवमष्टमनवमादयः । एत-
योर्दलैक्यं संधिः स्यात्, तद्यथा—द्वादशभावलग्नयोरैक्य-
दलं तन्मध्यवर्ती संधिः स्यात् । एवं लग्नद्वितीययोर्द्वि-
तीयतृतीययोरित्यादि ॥ २ ॥

संधौ खेटो निष्फलो भावभागैस्तुल्यः सम्य-
ग्भावपार्तिं व्यनक्ति ॥ संधेरूनाधिक्यमाप्तो
गतैष्यभावाधीनं संदधाति स्वपाकम् ॥३॥

अथ ग्रहफलानां भावकल्पनवशात्तारतम्यमाह—
संधौ स्थितो ग्रहो निष्फलः शुभफलोप्यशुभफलोपि ।
भावभागैस्तुल्यः खेटः सम्यक्परिपूर्णां भावपार्तिं भावफलं
व्यनक्ति प्रकटयति ददातीति यावत् । संधेः सकाशा-
दूनाधिक्यमाप्तः प्राप्तः खेटः गतैष्यभावाधीनं स्वपाकं
संदधाति । संधेरूनो ग्रहो गतभावजं फलमधिकस्त्वेष्य-
भावजं फलं ददातीत्यर्थः । तत्पदं पादोर्ध्वमेति त्रैराशि-
केन कल्प्यम् । एवमनेन विधिना यत्र भावे स्थितो ग्रह-
स्तत्फलं भावजं लग्नराशेः सकाशाद्यावति राशौ स्थितो
ग्रहस्तत्फलं स्वाभाविकम् ॥ ३ ॥

नांगीकारो भावजानां गुणानां तद्दोषाणां
तत्त्वतस्त्याग एव॥ भावव्यक्तावष्टमत्वं ग-
तोऽपि त्याज्यो लग्नात्सप्तमः सप्तसप्तिः॥४॥

अनयोर्विभेदे सति निर्णयमाह-भावेन भावकल्पन-
या ये जाता गुणास्तेषां गुणानां नांगीकारः न स्वीकारः
तस्माद्भावाकल्पनवशाद्ये दोषास्तेषां दोषाणां तत्त्वतः
साकल्येन त्याग एव। अत्र प्रथमस्योदाहरणं-भावेति ।
स्वाभाविके लग्नात्सप्तमः सप्तसप्तिः सूर्याभावव्यक्तौ
सत्यां भावकल्पनया अष्टमं गतोऽपि त्याज्य एव ।
सप्तसप्तयोऽश्वाः यस्यासौ तथा । एतदुक्तं भवति-
सूर्यः किल सप्तमो दुष्टः अष्टमः शुभः स्वाभाविकेन
सप्तमः सूर्यः यदि भाववशादष्टमो भवेत्तदासौ शुभोऽपि
त्याज्य एव ॥ ४ ॥

प्रत्याख्येयः पाक्षिकोऽपीह दोषः सम्य-
ग्व्यापी यो गुणः सोऽनुगम्यः ॥ यस्मादंशै-
र्गैहभावाधिकः सन्न स्याद्भूत्यै भार्गवः
पंचमोऽपि ॥ ५॥

अथ सयुक्तिकं द्वितीयोदाहरणमाह-यस्मात्कार-
णादोषः पाक्षिकोऽपि प्रत्याख्येयस्त्याज्यः गुणस्तु यः
सम्यग्व्यापी सोऽनुगम्यः अनुसरणीयः। सम्यग्व्याप्नोती-
ति सम्यग्व्यापी सर्वसंमतः पक्षांतरगतोऽपि दोषस्त्या-

ज्यो गुणस्तु सर्वसंमत एव ग्राह्य इत्यर्थः । तस्मात्कारणात्पंचमोपि भार्गवः अंशैर्भागैर्गैर्गहभावाद्गहभावभागेभ्यः अधिकः सन् भूत्यै शुभाय न स्यात् । अयं भावः—पंचमः शुक्रः किल शुभः षष्ठोऽशुभः भावादुभयतो यौ संधी तदंतर्वर्तिनोऽंशास्ते तद्भावस्य, अतः पूर्वसंधेः सकाशादंशैराधिको ग्रह उत्तरभावस्थितो भवेत् । अतः स्वाभाविकेन पंचमः शुक्रो यदि भाववशेन षष्ठो भवेत्तथापि त्याज्य एव भवति ॥ ५ ॥

संक्रांत्यंतर्वासरैर्यद्व्यवृत्ताल्लब्धं भानुर्भादि-
मेषादिमिश्रम् ॥ भक्ता रामैर्लग्नभुक्ता नवां-
शा दिग्भिर्निघ्नास्त्रिंशदंशा भवेयुः ॥ ६ ॥

अथ लग्नात्तद्वटिकाज्ञानं विवक्षुस्तदर्थं तावत्संक्रांतिज्ञानमात्रेण सूर्यज्ञानं लग्नांशज्ञानं चाह—अंतर्मध्ये वासराः अंतर्वासराः संक्रांत्योरंतर्वारास्ते तथा तैर्व्यवृत्तादिनगणाद्यद्वादि राश्यादि लब्धं तत् मेषादिराशिभिर्मिश्रं युक्तं भानुः स्यात् । तद्यथा—संक्रांतिमारभ्य इष्टदिनपर्यंतं यो गतो दिनगणः स पूर्वसंक्रांतिमारभ्य उत्तरसंक्रांतिपर्यंतं ये मध्यवर्तिनो दिवसास्तैर्भक्तः तस्माद्राश्यादि यल्लब्धं तत्संक्रांतिवशेन गतराशिभिर्युक्तं राश्यादिको भानुः स्यात् । अथ लग्नांशज्ञानम्—भक्ता इति । लग्नस्य भुक्ता ये नवांशास्ते दिग्भिर्निघ्ना रामैर्भक्तास्त्रिंशदंशा भागा भवेयुः । तद्यथा—यथोक्तविधिना लग्नशुद्धिं नवां-

शशुद्धिं च विचार्य 'अजमृगाननतौलि' इत्यादिवक्ष्यमा-
णोक्त्या लग्नादिममंशमारभ्य इष्टनवांशात्पूर्वं ये नवांशा
भुक्तास्ते दशघ्नास्त्रिभक्तास्तल्लग्नराश्यधोभागाः स्युरिति
राश्यादिलग्नं स्यात् ॥ ६ ॥

रात्रौ भानुर्भार्धयुक्सायनांशस्तन्वर्कांशाः
स्वोदयघ्नाः पृथक्ते ॥ त्रिंशद्भक्ता भुक्तभोग्याः
पलादि तादृक्कालो मध्यगस्स्वोदयाढ्यः ॥ ७ ॥

अथाभ्यां कालमाह—रात्रौ भानुर्भार्धयुक् षड्राशियु-
क्तः दिवा तु यथास्थित एव सायनांशः अयनांशसहितो
दिवा रात्रौ च अर्थाल्लग्नं च सायनांशं कार्यं तन्वर्कांशाः
क्रमेण भुक्तभोग्याः पृथक् स्वोदयघ्नाः त्रिंशद्भक्ताः
पलादि स्यात् । अर्थाद्भुक्तं भोग्यं च । तद्यथा—तनोर्ल-
ग्नस्य भुक्तभागा लग्नोदयेन गुणिताः त्रिंशद्भक्ताः पलादि
भुक्तं स्यात् । एवमर्कस्य भोग्यभागाः अर्कोदयेन गुणि-
तास्त्रिंशद्भक्ताः पलादिकं भोग्यं स्यादिति । तादृक्कालः
स्वोदयाढ्यो मध्यगः स्यात् । तदिव दृश्यतेऽसौ ता-
दृक् स चासौ कालश्च तादृक्कालः पलादिभुक्तभोग्यका-
लः । स्वोदयैर्मध्यवर्त्तिभिरुदयैराढ्यः मध्यगः लग्नार्कयो-
र्मध्यवर्त्ती कालः स्यात् ॥ ७ ॥

तत्कालार्कन्यूनलग्नांशपिंडो भक्तः पंचक्षो-
णिभिर्भुक्तहोराः ॥ भास्वच्छुक्रज्ञेदुसौरार्य-
भौमाः संख्यायेरन्वारतस्ते तदीशाः ॥ ८ ॥

अथ लग्नकालमुक्त्वा लग्नात्कालहोरामाह--स चा-
सौ कालश्च तत्कालः तत्कालेर्कः तेन न्यूनं तच्च तल्लग्नं
च तस्य अंशाः तेषां पिंडः समूहः पंचक्षोणिभिः पंच-
दशभिर्भक्तः भुक्तहोराः स्युः । तदीशाः तासां होराणा-
मीशा भास्वदादयो वारमारभ्य संख्यायेरन् गणयेरन् ।
कर्मणि लिङ् । भास्वान् सूर्यः शुक्रः प्रसिद्धः ज्ञो बुधः
इंदुश्चंद्रः सौरः शनिः आयो गुरुः भौमः प्रसिद्धः ॥ ८ ॥

होराः क्रूराः सौम्यवर्गाधिके स्युर्लग्ने मोघाः
सौम्यवारे च रात्र्याम् ॥ पापारिष्टं निष्फलं
शक्तिभाजां स्यात्षड्वर्गे लग्नगे सद्रहाणाम् ॥ ९ ॥

अथ पापहोराभंगमाह--सौम्यग्रहहोरा शुभा पाप-
होराऽशुभेति स्पष्टमर्थसिद्धं च । सौम्यवर्गैः अधिकं त-
स्मिन् सौम्यवर्गाधिके लग्ने सति क्रूराः पापहोराः मोघा
निष्फलाः स्युः । गृहादीन्षड्वर्गान्वक्ष्यति--तत्र चतु-
रधिकाः सौम्या वर्गाश्चेत्स्युस्तदा सौम्यवर्गाधिक्य-
मिति स्पष्टम् । किंच वारे रात्र्यां च क्रूरा होरा मोघाः
स्युः । सौम्यवारे सदा रात्रौ क्रूरवारे सत्यपीत्यर्थः ।
तथा च गर्गः--“क्रूरवारे क्रूरहोरा न शस्ता इह
मंगले । नातिदुष्टा शुभे वारे रात्रौ स्वल्पफला मता”
इति । वैद्यनाथः--“न लग्नं सच्चतुर्वर्गं दुष्यते कालहो-
रया”इति । एतत्प्रसंगेन अन्यस्य पापजनितस्याशुभ-
फलस्य भंगमाह । पापारिष्टमिति । पापारिष्टं पापग्रहज-

नितमरिष्टम् अशुभं निष्फलं स्यात् । कस्मिन्सति ।
शक्तिभाजां बलिनां सद्ग्रहाणां सौम्यग्रहाणां षड्वर्गे
लग्ने सति ॥ ९ ॥

चरार्धदेशान्तरयुग्वियोगौ क्रमेण याम्योत्त-
रगोलगेर्के ॥ योगे पुरा रव्युदयाद्वियोगे प-
श्चात्प्रवृत्तिर्दिनवारकर्तुः ॥ १० ॥

एवं कालहोराणां मतांतरमुक्त्वा सर्वसंमतं वक्ष्यंस्त-
दर्थं तावद्धारप्रवृत्तिमाह । उपजातिका । चरार्ध देशान्तरं
च ग्रहगणिते प्रसिद्धं तत्र चरार्धमेव चरमुच्यते, देशान्ति-
रयोजनानि स्वचतुर्थांशो नितानि तत्पलानि स्युः । ते-
षां चरार्धपलानां च क्रमेण युग्वियोगौ कार्यौ । कस्मिन्
सति । याम्योत्तरगोलगे अर्के सति । याम्यगोले योगः
उत्तरगोलके वियोग इत्यर्थः । तत्र योगे सति तैः पलै-
र्दिनवारकर्तुः प्रवृत्ती रव्युदयात्पुरा पूर्वं स्यात् । वियोगे
सति पश्चाद्भवेत् । अतो दक्षिणगोले पूर्वं सदा वारप्रवृ-
त्तिरुत्तरगोले पश्चादिति दिनस्य दिवसस्य वारस्य कर्ता
वार एवेति यावत् । इयमुक्ता वारप्रवृत्तिरसंगता, वासनाबा-
ह्यत्वात्, सप्तर्षिवराहादिवचनविरोधाच्च । तथाहि—लं-
कायां सूर्योदयात्सर्वदेशे किल वारप्रवृत्तिः । लंकायां य-
त् क्षितिजं तदन्यदेशे उन्मंडलम् उत्तरगोले स्वक्षितिजा-
दूर्ध्वमुन्मंडलं दक्षिणे त्वधः तदन्तरं चरमेव । अत उत्त-
रगोले मध्यरेखायां स्वोदयादुपरि चरपलैर्वारप्रवृत्तिः ।

दाक्षिणे तु पूर्वं मध्यरेखास्वदेशोदययोरन्तरे देशान्तरप-
लानि तैः पलैः रेखायाः पश्चिमदेशे ऊर्ध्वमुदयः पूर्वदेशे
त्वधः अतोऽनेन विधिना चरदेशान्तरयोः संस्कारवशादू-
र्ध्वमधो वा वारप्रवृत्तिरिति । अत एवोक्तं सिद्धांते—‘अर्को-
दयादूर्ध्वमधश्चे’ इत्यादि । तथा च संहितायां सप्तर्षिभिश्च-
“उत्तरदक्षिणचरदलहीनयुता नाडिका रवेरुदयात् ।
प्राक्पश्चात्तरदेशान्तरयोजनखाष्टांशकेनापि ॥” इत्यादि ।
अन्यैश्च—‘सौम्ये गोले सवितुरुदयात्’ इत्यादि । अत
उक्तमनेन तद्गोलवासनाविरुद्धं सप्तर्षिप्रमुखवचनैर्वि-
रुद्धम् । अथ वक्तव्यमस्य पाठांतरमस्तीति चेत्तत्र, यतः
सर्वत्राप्ययमेव पाठः । अथ च वक्तव्यमस्यार्थांतरम-
स्तीति चेत्तदपि न । उत्तानार्थत्वे सत्यर्थांतरासंभवात् ।
अर्थांतरं भविष्यति चेद्विचारयंतु नास्त्येवार्थांतरम् ।
अथ वक्तव्यमसौ मध्यरेखायाः पश्चिमदेशनिवासी भवि-
ष्यति अतस्तेन स्वदेशाभिप्रायेणेदमुक्तमिति तदपि न
उत्तरगोले देशान्तरपलेभ्यो हीने चरे सति व्यभिचारात् ।
तथा हि तदावयोः संस्कारे क्रियमाणे पश्चिमदेशान्तर-
स्यावशेषत्वात्तत्तुल्यैः पलैः पूर्वमेव वारप्रवृत्तिर्भाव्या
असौ तु वदति वियोगे पश्चादिति । अतः कुत्राप्यनालं-
बने सतीदं वक्तव्यम् । अनेन पश्चिमदेशनिवासित्वात्स्व-
दशाभिप्रायेणेदमुक्तम् । यत्तूत्तरगोले अल्पचरे सति व्य-
भिचर्यते तत्कादाचित्कत्वात्तेनोपेक्षितमिति मंतव्यम् ॥

द्विघ्नेष्टनाडीशरलब्धतुल्या वारप्रवेशादपि
कालहोराः ॥ संख्योक्तवत्तास्वथ यद्युभाभ्यां
ऋरा कुवर्गश्च तदातिदोषः ॥ ११ ॥

अथ होरानयनम् । इन्द्रवज्रा । वारप्रवेशाद्वारप्रवेशमा-
रभ्य द्विघ्नाश्च ता इष्टनाड्यश्च ताभ्यः शरैः पंचभिः यल्ल-
ब्धं तेन तुल्याः कालहोराः कालहोरेशाः स्युः । अपि
मतांतरव्योतने । प्रागुक्तहोराः स्युः, एता अपि भवंति । अथ
तासु होरासु संख्यागणना उक्तवत्स्यात् । भास्वच्छुक्रज्ञे-
त्यादिना अनयोर्मतयोः फलितमाह-यदीति । यद्युभा-
भ्यां प्रकाराभ्यां ऋरा होरा भवेत् कुवर्गः पापवर्गाधिक्यं
च तदातिदोषो महादोषो भवेत्तदा तल्लग्नं सर्वथा त्या-
ज्यमेवेत्यर्थः ॥ ११ ॥

गंडांतेष्वपि वैधृतावुभयतः संक्रातियामद्व-
ये यामार्धव्यतिपातविष्टिकुलिकैर्मग्नं विलग्नं
जगुः ॥ द्विघ्नामनवोर्कतः कुलकिनो व्येका
मुहूर्ता निशि त्याज्यास्तिथ्युडुवारजाश्च
न परे दोषाः स्वशादीन्विना ॥ १२ ॥

अथैतत्प्रसंगेनान्यांश्च महादोषानाह । शार्दूलविक्री-
डितमागंडांतानि त्रिविधानि 'शूलवैधृतवरीयसाम्' इत्या-
दिना वक्ष्यमाणानि वैधृतिः सप्तविंशो योगः संक्रांतेः सका-
शाद्यामद्वये उभयतः संक्रांतिकालात्प्राक्पश्चाच्च षोडश-

घटिकास्वित्यर्थः । यामार्धमर्धयामः स तु शास्त्रांतरो-
क्तः 'मनीषिणोर्धप्रहराद्वितीयात्' इत्यादिना व्यतिपातः
सप्तदशो योगः विष्टिर्भद्रा सप्तमं करणं कुलिकोनंतरमे-
वोक्तः एतैर्गंडांतादिदोषैर्भग्नं विलग्नं जगुर्मुनयः । एष्व-
न्यतमे दोषे सति लग्नभंगः स्यादित्यर्थः । अत्र कुलिक-
माह—द्विद्व्यूनाइति । द्वाभ्यां द्वाभ्यामूनाः द्विद्व्यूनाः
मनवश्चतुर्दश अर्कतः सूर्यमारभ्य कुलकिनो मुहूर्ता भवन्ति
कुलिकोस्ति येषां ते कुलकिनः रवौ चतुर्दशे मुहूर्ते कुलि-
कश्चंद्रे द्वादशे भौमे दशमे इत्यादि । निशि तु व्येकाः रवौ
त्रयोदशे चंद्रे एकादशे इत्यादि दिनस्य रात्रेर्वा पंचदशांशो
मुहूर्तः प्रसिद्धः—अथैतत्प्रसंगेन अन्येषां वारादिदोषाणां
विषयमाह—त्याज्या इति । ये मयात्र उक्ता दोषाः तेभ्यः
परैन्ये तिथ्युडुवारजा दोषाः खशादीन्विना न त्या-
ज्याः आदिशब्देन हूणवंगानां ग्रहणं, तिथिश्च उडु च
वारश्च तेभ्यः जातास्ते तथा । तत्र तिथिजा दग्धास्ति-
थ्यादयः, नक्षत्रजा उपग्रहादयः, वारजाः कंटककालवे-
लादयः ते खशादिष्वेव वर्जनीया नान्यत्रेत्यतोत्र नोक्ता
इति । ये त्वत्रोक्तास्ते सर्वदेशे त्याज्या इत्यर्थः । उक्तं च-
'तिथ्युडुदिनपतिजाता योगा ग्राह्यास्तु हूणखशवंगैः'
इत्यादि । यद्वा—तिथिश्च उडुश्च तिथ्युडू तिथ्यडू च वा-
रश्च तिथ्युडुवाराः तेभ्यो जातास्ते तथा तिथिवारजा न-
क्षत्रवारजाश्चेत्यर्थः । उक्तं च श्रीपतिना—'विरुद्धयोगा-

स्तिथिवारजाताः' इत्यादि । तिथिवारजाः संवर्तकादयः,
 ऋदुवारजाः मृत्युयोगकालदंडादयः । तत्र केचिन्मृत्युयोगं
 सर्वदेशे त्यजन्ति तद्वाक्यं च- 'सर्वदा सर्वदेशेषु मृत्युयोगं
 विवर्जयेत्' इति ॥ १२ ॥

राश्यंशाः शशिभूगुणेषणहतास्तिथ्यभ्रभू-
 दिक्छरैर्भक्ता भार्धट्टकाणनंददिनकृद्भागा
 गृहं यस्य यत् ॥ त्रिंशांशाः सितसौम्यजी-
 वरविजक्ष्माजन्मनां व्युत्क्रमादोजक्षेपु श-
 राश्वसर्पमरुतः पंचेति षड्गणिका ॥ १३ ॥

अथ लग्ने षड्गणशुद्धिमाह । शार्दूलविक्रीडितम् । राशेः
 अंशाः राश्यंशाः राशिभुक्तांशा राशीन्संत्यज्य अंशा
 ग्राह्या इत्यर्थः । ते चतुर्षु स्थानेषु क्रमेण शशिभूगुणेष-
 णहताः ॥ १ । १ । ३ । २ ॥ ईक्षणे द्वे, शेषाः स्पष्टाः ।
 तिथ्यभ्रभूदिक्छरैर्भक्ताः १५ । १० । १० । ५ ॥ अभ्र-
 भूवो दश शेषाः प्रसिद्धाः । लब्धानि भार्धादयो वर्गाः स्युः
 भार्ध होरा दृक्काणो द्रेष्काणः नंददिनकृद्भागौ नवांशद्वा-
 दशांशौ एवं चत्वारो वर्गाः यस्य ग्रहस्य यद्गृहं तस्यैव
 अयमेको गृहाख्यः । अथ त्रिंशांशः-समराशौ सितादीनां
 यंचादयस्त्रिंशांशाः त्रिंशतः पूरणास्त्रिंशाः "शदंतविंशते-
 श्च" इति उपत्ययः । त्रिंशाश्च ते अंशाश्च त्रिंशांशाः ।
 तद्यथा-समराशावाद्याः पंचभागाः शुक्रस्य ततः सप्त

बुधस्य ततोष्टौ गुरोः ततः पंच शनेः ततः पंच भौम-
स्येति । ओजर्क्षेषु विषमराशिषु व्युत्क्रमात् भागानाम-
धिपतीनां च । तद्यथा--आद्याः पंच भौमस्य ततः पंच
शनेः ततोष्टौ गुरोः ततः सप्त बुधस्य ततः पंच शुक्र-
स्येति । अत्र सितादीनामेवोत्क्रम इति न व्याख्येयं
गर्गादिवचनविरोधात् । इतीयं षड्वर्गिका स्यात् । षण्णां
वर्गाणां समाहारः षड्वर्गी सैव षड्वर्गिका ॥ १३ ॥

कुजकवींदुजचंद्ररवींदुजाः सितकुजेज्यय-
मार्कजसूरयः ॥ भवनपा लवपाश्च तदाद-
यस्त्वजमृगाननतौलिकुलीरकाः ॥ १४ ॥

अथ सौम्यपापवर्गज्ञानाय राश्यधिपानाह । द्रुत-
विलंबितम् । कुजादयो भवनपा राश्यधिपाः स्युः
मेपादीनां द्वादशराशीनां कुजादयो द्वादश क्रमेणाधिपाः
स्युरित्यर्थः । एवं गृहाधीशाः । अथ नवांस्य एते लवपाः
नवांशपतयश्च स्युः । नवांशराशेरप्यधिपाः स्युरित्यर्थः ।
तमेव नवांशराशिमाह--तदादय इति । तस्य नवांश-
स्यादयः प्रथमाः अजमृगाननतौलिकुलीरकाः स्युः
मेपराशौ प्रथमनवांशो मेष एव वृषे मकरः मिथुने तौली
कर्के कर्कट एव, एवं पुनः सिंहे मेषः कन्यायां मकर
इत्यदि । एवं प्रथमनवांशं ज्ञात्वा तमारभ्य प्रागानीत-
भुक्तनवांशान् गणयित्वा वर्तमाननवांशराशिः स्यात् ।
तदधिपो नवांशाधिपतिरिति ॥ १४ ॥

होरे समेऽब्जखगयोर्विषमे रवींदोर्द्रेक्काणकाः
 प्रथमपंचनवेश्वराणाम् ॥ स्युर्द्वादशांशपतयः
 स्वगृहाच्छुभानि भानि ग्रहाश्च निजमित्र-
 शुभांशभाजः ॥ १५ ॥

अथ होरादीनाह । वसंततिलका । समे शमराशौ
 अब्जखगयोर्होरे स्तः अब्जश्चंद्रः खगः सूर्यः 'खगः पूषा
 गभस्तिमान्' इत्यभिधानात् । विषमे राशौ क्रमेण होरे
 स्तः प्रागानीतलब्धवशात्समे राशौ प्रथमा होरा चंद्रस्य
 द्वितीया सूर्यस्य, विषमे प्रथमा सूर्यस्य द्वितीयेदोरित्यर्थः ।
 अथ द्रेक्काणाधीशाः-द्रेक्काणका इति । स्वगृहात्प्रथमपं-
 चनवेश्वराणां द्रेक्काणाः स्युः । तद्यथा-यदा शून्यं लब्धं
 तदा प्रथमो वर्तमानः, यदा एकं तदा द्वितीय इत्यादि ।
 अनेन विधिना प्रथमो द्रेक्काणो राश्याधिपस्यैव द्विती-
 यस्तस्माद्वाशेः पंचमाधिपस्य तृतीयो नवमराश्याधिप-
 स्येति । अथ द्वादशांशः-स्वगृहात् द्वादशांशपतयः स्युः ।
 स्वीयलब्धवशात् द्रेक्काणवत् त्रिंशांशानां स्वामिन एवो-
 क्ताः । एवं षड्वर्गाधीशा उक्ताः । अथैषां शुभत्वमाह-शुभा-
 नीति । शुभानां सौम्यग्रहाणां भानि राशयः शुभानि
 स्युः यद्वर्गस्य राशेरधिपः शुभः स्यादित्यर्थः । न केवलं
 राशिः किंतु ग्रहाश्च निजमित्रशुभांशभाजः शुभाः । निज-
 च मित्रं च शुभश्च तेषामंशो नवांशः तं भजंति ते तथा

स्वसुहृच्छुभानां नवांशस्थिता इत्यर्थः । वर्गराशेरप्य-
धिपः एवं विधस्तदैव वर्गः शुभ इति भावः ॥ १५ ॥

भजेत्तु भुक्तयंतरभुक्तियोगैः पृथक्पृथक्षष्टि-
गुणान्गुणाग्नीन्॥तिथीभयोगान्तरनाड्य इं-
दोः पुण्या रवेः पुण्यतमास्त्विमाः स्युः ॥१६॥

अथ तिथ्यादीनां संधिकालमाह । उपजातिका ।
षष्टिगुणान् गुणाग्नीन् पृथक्पृथक् भुक्तयंतरभुक्तियोगैः
भजेत् क्रमेण तिथीभयोगान्तरनाड्यः स्युः । भुक्तयंतरं च
भुक्तिश्च भुक्तियोगश्च ते तथा । चंद्रार्कयोर्भुक्तयंतरं भु-
क्तिश्चंद्रस्यैव योगश्चंद्रार्कभुक्तियोगः । तद्यथा—त्रयस्त्रिंशतं
षष्ट्या संगुण्य त्रिधा संस्थाप्य क्रमेण चंद्रार्कभुक्तयंतरेण
चंद्रभुक्त्या चंद्रार्कभुक्तियोगेन च विभज्य तिथिनक्षत्र-
योगानां संधिनाड्यः स्युरित्यर्थः । तिथिशब्दस्य स्त्रीलिं-
गेऽपि सत्त्वात् “कृदिकारात्—” इति ङीपि कृते तिथीति
सिद्धम् । उक्तं च सिद्धांते—‘शशितनुविकलाभ्यः’ इति । एता
एव मध्यगत्या आनीय वक्ष्यति—नक्षत्रयोगेत्यादिना ।
चंद्रार्कयोः संक्रमणकालमाह—इंदोरिति । इमा अनेनैव
प्रकारेण साधिता अंतरनाड्यः इंदोः पुण्या रवेस्तु पुण्य-
तमाः स्युः । एतदुक्तं भवति—रवेश्चंद्रस्यापि बिंबं त्रय-
स्त्रिंशत्कलाः अतोऽनयैव रीत्या त्रयस्त्रिंशतं षष्ट्या संगु-
ण्य स्वस्वगत्या विभज्य अंतरकालः स्यात् । स चंद्रस्य

पुण्यः स्वेस्त्वतिशयितः पुण्यः । अयं कालो नक्षत्रयो रा-
श्योर्वा अंतराले भवेत् संक्रमणकाले इत्यर्थः ॥ १६ ॥

कुजादिकानामपि बिंबलिप्ताः खषड्गुणाः स्व-
स्वजवेन भाज्याः ॥ नाड्यादिकः संक्रमणां-
तरालकालः स्फुटस्तत्स्फुटभुक्तिविंबैः ॥ १७ ॥

अथ भौमादीनामपि संक्रमणकालमाह । उपजातिका ।
कुजादिकानां भौमादीनामपि प्रागुक्ता बिंबलिप्ताः खष-
ड्गुणाः स्वस्वजवेन स्वस्वगत्या भाज्याः संक्रमणांतराल-
कालो नाड्यादिको भवेत् । अत्र बिंबानि मध्यान्वेवो-
क्तानि । तेभ्यः कृतो यः संक्रमणकालः सोऽपि मध्यो
भवेत् । तत्स्फुटभुक्तिविंबैः स्फुटः स्यात् । तेषां भौमा-
दीनां ग्रहगणितोक्त्या स्फुटभुक्तिभिः स्फुटविंबैश्च स्फुट-
कालः स्यात् । एषां संधिकालादीनामर्धं तदंतादुभयत्रे-
त्यर्थसिद्धम् ॥ १७ ॥

स्वेर्भवेदेकगृहाधिकस्य यदंशवृंदं खलु सा-
यनस्य ॥ यदत्र राशिद्वयभागतष्टलब्धं वसं-
तादृतवो भवंति ॥ १८ ॥

अथ ऋत्वादिसंधीन्विबक्षुः ऋत्वानयनं तावदाह ।
उपजातिका । एकगृहाधिकस्य एकराशियुक्तस्य साय-
नांशस्य अयनांशसहितस्य स्वेर्यदंशवृंदं भागसमूहो भ-
वेत् तद्वाशिद्वयभागैः षष्ट्या तष्टं भक्तं यल्लब्धं ते वसंता-

द्वसंतमारभ्य ऋतवो भवन्ति । 'मृगादिराशिद्वयभातुभो-
गात्' इत्युक्त्या मीनादौ वसंतारंभः । अत उक्तम्-
एकगृहाधिकस्येति । यावद्विरंशैरयनच्युतिः स्यादित्युक्त-
त्वात्सायनस्येत्युक्तम् । एवं कोचिद्वत्त्वयनादीनि सायना-
र्कादिच्छन्ति तदाभिप्रायेणेदमुक्तम् । केचित्तु केवलादेव
उभयादपि । केचित्कालनिर्णयकारादयः ॥ १८ ॥

तत्संधयोंगांगघटीसमाः स्युर्द्विसंगुणाश्चे-
द्विषुवायनीयाः ॥ स संधिसंधिः खलु यत्र
शेषः शून्यं भवेदेष विशेषपुण्यः ॥ १९ ॥

अथ ऋत्वादीनां संधिकालमाह-तेषामृतूनां संधयः
अंगांगघटीसमाः षट्षष्टिघटिकातुल्याः स्युः । तदंता-
स्त्रयस्त्रिंशद्घटिकाः पूर्वं पश्चाच्चेत्यर्थः । चेद्विषुवायनी-
यास्तर्हि द्विसंगुणाः द्वात्रिंशदधिकशतघटिकाः इत्य-
र्थः । विषुवं च अयनं च विषुवायने तयोरिमा विषुवा-
यनीयाः विषुवं मेषतुलासंक्रमौ अयनं कर्कटमकरसंक्र-
मौ तत्पूर्वं पश्चाच्च षट्षष्टिघटिका इत्यर्थः । यत्र काले
इति । शेषः शून्यं भवेत् राशिद्वयभागतष्टमिति क्रिय-
माणे यदा शून्यं शेषं भवेत् । एकस्यांतोऽन्यस्यादिरि-
त्यर्थः । ससंधिसंधिर्भवेत् संधेरपि संधिः संधिसंधिः एष
कालः विशेषपुण्यः अतिशयितपुण्यः । अत्र संधिसंधौ
पुण्ये विशेषग्रहणात्संधिकाले साधारणपुण्यमस्तीति
सूचितम् ॥ १९ ॥

संधौ पुरंध्री शुचमेति वंध्या मृतप्रजा वा
यदि संधिसंधिः ॥ वदंति वात्स्या ऋतुना
विमूढा निशीथमध्यंदिनसंधिषूढाम् ॥२०॥

अथैषां संधीनां फलमाह । उपजातिका । संधौ तिथि-
नक्षत्रादिसंधिकाले पुरंध्री स्त्री शोकमेति प्राप्नोति । यदि
संधिसंधिस्तदा पुरंध्री वंध्या मृतप्रजा वा भवेत् । अथै-
तत्प्रसंगेन मध्यंदिनमध्यरात्रसंधिकालयोः फलमाह—
वदंतीति । निशीथमध्यंदिनसंधिषु ऊढां विवाहितामृतु-
ना विमूढामार्तवरहितां वात्स्या मुनयो वदंति वत्सस्या-
पत्यानि वात्स्याः । निशीथोद्धरात्रः दिनस्य मध्यमिति
मध्यंदिनंतयोः संधयः । तत्परिमाणमुक्तं ग्रंथान्तरे—“मूर्तः
कालो निवसति महानिशायां च दिनदले यस्मात् ॥ दश
पूर्वं दश परतस्तस्माद्भुज्यानि च पलानीति” ॥ २० ॥

शूलवैधृतवरीयसां च यत्पंचमेषु च तिथि-
ष्ववांतरे ॥ रेवतींद्रफणिभोद्धवं तदप्याग-
ताद् द्विगुणमुत्सृजेत्सुधीः ॥ २१ ॥

अथ शूलादियोगसंधीनां विशेषमाह । रथोद्धता ।
शूलश्च वैधृतश्च वरीयांश्च एषां योगानां यत्प्रागागतमवां-
तरं यच्च पंचमेषु तिथिषु पंचमीदशमीपंचदशीषु यच्च
रेवतींद्रफणिभोद्धवं रेवतीज्येष्ठाश्लेषोद्धवं तदपि आगता-
देवांतराद्विगुणं सुधीः उत्सृजेत्त्यजेत् । एतेषामंतादेतत्तु-
ल्यं पूर्वं पश्चाच्चेत्यर्थः । एतद्गंडांतसंज्ञम् ॥ २१ ॥

नक्षत्रयोगतिथिसंधिषु नाडिकैका तिथ्यष्ट-
विंशतिपलैः सहितोभयत्र ॥ कर्कालिमीन-
तनुसंधिषु दिक्पलानि त्याज्यानि शेषवि-
वरेष्वपि पंच पंच ॥ २२ ॥

अथ तिथ्यादीनां संधिव्यवहारार्थं मध्यगत्यानीय
पठति । वसंततिलका । नक्षत्रयोगतिथीनां संधिषु एका
नाडिका क्रमेण तिथ्यष्टविंशतिपलैः सहिता उभयत्र पूर्वं
पश्चाच्च त्याज्या । एका नाडिका पंचदशपलैः सहिता
उभयत्र पूर्वं पश्चाच्च त्याज्या । एका नाडिका पंचदश-
पलैः सहिता नक्षत्रसंधिः । अष्टपलैः सहिता योगसंधिः ।
विंशतिपलैः सहिता तिथिसंधिरित्यर्थः । लग्नसंधिमाह ।
कर्कालीति । कर्कालिमीनतनूनां कर्कवृश्चिकमीनलग्नानां
संधिषु दिक्पलानि दशपलानि उभयत्र त्याज्यानि ।
एषाम् अंतात्पूर्वं पश्चाच्चेति । शेषाणां वृषादिलग्नानां विव-
रेषु संधिषु पंच पंच पलानि उभयत्र त्याज्यानि । एष
संधिरंशानामपि ज्ञेयः, लग्नोपलक्षणात् ॥ २२ ॥

अमा तिथिः पार्श्वतिथिद्वयेन समं न मांग-
ल्यमुपादधाति ॥ लोकंपृणस्तत्र तिथेः
प्रणेता यस्मान्न पीयूषवपुर्वपुष्मान् ॥ २३ ॥

अथ माससंधिमाह । उपजातिका । अमा अमावास्या
तिथिः पार्श्वयोस्तिथिद्वयेन समं सह । सार्द्धं तु साकं सत्रा

समं सह'इत्यमरः। चतुर्दशीप्रतिपत्सहितेत्यर्थः । मांगल्यं न उपादधाति न धारयति । अत्र हेतुमाह—लोकमिति । यस्मात्कारणात्तत्र तस्मिन् तिथित्रये लोकंपृणश्चंद्रमाः, लोकं पृणाति असौ लोकंपृणः 'पृ पालनपूरणयोः' कर्तरि शः शित्वात् “ लोकस्य पृणे ” इति मुम् । तिथेः प्रणेता प्रवर्तकः पीयूषवपुरमृतशरीरः वपुष्मान् प्रशस्तं वपुर्यस्यासौ वपुष्मान्नास्ति । चतुर्दश्यादिषु कृष्णपक्षे एवंविधस्य चंद्रस्य अस्तंगतत्वादित्यर्थः । चंद्रो ह्यमृतकिरणो लोकाप्यायकस्तिथिप्रवर्तक इति ॥ २३ ॥

उदेति चायं प्रतिपत्समाप्तौ कृशोऽपि वर्धिष्णुतया प्रशस्तः ॥ द्वीपांतरस्थो विफलोऽपि तावद्यावन्न पृथ्वीनयनाध्वनीनः ॥ २४ ॥

अन्यैश्चंद्रवात्यत्वाद्वितीया निषिद्धा तन्मतं निषेधयन् किंचिद्विशेषमाह । उपजातिका । अयं चंद्रमाः प्रतिपत्समाप्तौ प्रतिपदंते उदेति च । सामीप्येः सप्तमी । प्रतिपदंते तत्समीपे वेत्यर्थः । दृक्कर्मादिसंस्कारवशात् स उदितश्चंद्रः कृशोऽपि वर्धिष्णुतया हेतुना प्रशस्तः वर्धनशीलो वर्धिष्णुः तस्य भावस्तया। यथा शिशुर्वर्धमानतया प्रशस्यते तद्वच्चंद्रोऽपीत्यर्थः । अतोऽस्य बालत्वदोषो नास्तीति सूचितम् । तस्यापि विशेषमाह—द्वीपेति। द्विर्गता आपो यस्मिन् तद्वीपं तस्मादन्यद्वीपं द्वीपांतरं तत्र तिष्ठतीति द्वीपांतरस्थः । देशांतरदृष्ट इत्यर्थः । देशांतर-

दृष्टश्चंद्रस्तावद्विफलः तावत्कथं यावत्पृथ्वीनयनाध्व-
नीनो नास्ति । पृथ्वीशब्देन तत्रस्था जना लक्ष्यन्ते तेषां
नयनानि पृथ्वीनयनानि तेषामध्वा मार्गस्तस्मिन्नलं ग-
च्छतीति पृथ्वीनयनाध्वनीनः “अध्वनो यत्खौ” इत्य-
लंगाम्यर्थे खः । “आत्माध्वानौ खे” इत्यतः प्रकृति-
त्वम् । यद्वा-पृथ्वीनयनाध्वनि इनः समर्थः पृथ्वीनय-
नमार्गे क्षम इति । एतदुक्तं भवति-शास्त्रेण दृष्टश्चंद्रो
देशांतरदृष्टः । इदं “लंकापुरेऽर्कस्य यदोदयः स्यात्तदा दि-
नार्धं यमकोटिपुर्याम्” इत्यादि गोलवासनया प्रसिद्धम् ।
अतः स्वदेशभूमिस्थितैर्जनैर्यावन्न दृष्टस्तावद्विफल इत्य-
र्थः । अभ्रादिना तु अदर्शनेन दोष इति प्रसिद्धमेव ॥ २४ ॥

नो जन्ममासतिथिभेदेषु न चाधिकोने मासे
तिथौ च पृथु मंगलमामनन्ति ॥ यज्ज्येष्ठ-
गर्भजमपत्यमुपेतमेतज्ज्येष्ठे महोत्सवम-
वश्यमियान्न वृद्धिम् ॥ २५ ॥

अथ जन्ममासादीनां निषेधमाह । वसंततिलका ।
जन्मनि मासतिथिभानि तेषु जन्ममासि जन्मतिथौ
जन्मनक्षत्रे वेति पृथु मंगलं चौलोपनयनाविवाहादिकं नो
आमनन्ति न कथयन्ति । न च अधिकोने मासे अधिमा-
से क्षयमासे चेति, अधिकोने तिथौ च दिनवृद्धौ दिनक्षये
वेति । ज्येष्ठमासस्य विशेषमाह-यज्ज्येष्ठेति । यज्ज्येष्ठ-

गर्भजमपत्यं पुत्रः कन्या वा तज्ज्येष्ठे मासे महोत्सवं
चौलोपनयनविवाहादिकमुपेतं प्राप्तं तदवश्यं वृद्धिं न
इयात् न प्राप्नुयात्। ज्येष्ठमासे मंगलं शुभन्नेत्यर्थः॥२५॥

इत्यतीन्द्रियदृशो निरूचिरे यद्गुणागुणमयं
मुनीश्वराः ॥ दैवविद्विदितजन्मतन्मतः की-
र्तिभागभवति लग्नलग्नधीः ॥ २६ ॥

इति विवाहवृन्दावने लग्नषड्वर्गाध्यायोऽष्टमः॥८॥

अथैषां गुणदोषाणां विवेककर्तुः प्रशंसामाह । रथोद्ध-
ता । इति यदुक्तं गुणागुणमयं गुणाश्च अगुणाश्च गुणा-
गुणाः तैः प्रचुरं गुणागुणमयमतीन्द्रियदृशो दिव्यद्रष्टारो
मुनीश्वराः निरूचिरे निजगदुः । विदितजन्मतन्मतः
लग्नलग्नधीः दैववित्कीर्तिभागभवति । तच्च तन्मतमस्य
तच्छब्दस्य पूर्वेण यच्छब्देनान्वयः । जन्म च तन्मतं
च जन्मतन्मते विदिते जन्मतन्मते येनासौ तथा ।
एवंविधगुणदोषविचारचतुरो लग्ननिहितैकबुद्धिः कीर्ति-
मान् भवतीत्यर्थः ॥ २६ ॥

इति श्रीसकलागमाचार्यवर्यश्रीकेशवसांवत्सरात्मजग-
णेशदैवज्ञविरचितायां विवाहवृन्दावनटीकायां विवाहदी-
पिकायां लग्नषड्वर्गादिशुद्धचधिकारोऽष्टमोऽध्यायः ॥८॥

अथ गोधूलिकाध्यायः ।

प्राचीं कुंकुमचर्चितामिव दिशं मुक्ताफल-
स्रग्विणीं कौसुभांशुकभासिनीमिव दिशं
प्राचेतसीं दर्शयन् ॥ यावद्याति करग्रहं सह
रविः संध्याकुरंगीदृशा तावन्मंगलमंगल-
ग्रसुरभीरेणोः करं गृह्यतः ॥ १ ॥

एवं सर्वलग्नानां शुद्धिमभिधायेदानीं गोधूलिकलग्न-
विशेषशुद्धिरारभ्यते । तत्र तावत्तस्य कालं दर्शयन्स्वक-
विताकौशलं दर्शयति । शार्दूलविक्रीडितम् । तावत्पर्यन्त-
मंगलग्नसुरभीरेणोः कुमार्याः करं पाणिं गृह्यतः स्वीकर्तुः
पुरुषस्य मंगलं भवति सुरभीणां धेनूनां रेणुः धूलिः सुर-
भीरेणुः । अंगेषु लग्नाः संसक्ताः सुरभीरेणवो यस्याः सा
तथा । धेनुधूलिधूसराया इत्यर्थः । तावत्कथं यावद्रविः
सूर्यः संध्याकुरंगीदृशा सह करग्रहं याति कुरं-
ग्या दृगिव दृग्यस्याः सा तथा मृगलोचना संध्यैव
कुरंगीदृक् संध्याकुरंगीदृक् तथा । अत्र संध्या सायं-
संध्यैव तत्रैव सुरभीरेणूनां संभवात् । किं कुर्वन्सन् ।
कुंकुमचर्चितामिव प्राचीं दिशं प्रति आत्मानं दर्शयन् ।
इवोत्प्रेक्षायाम् । कुंकुमेन चर्चिता मंडिता । दृशे-
र्णिजंतत्त्वाद्विकर्मकत्वम् । सायंकाले प्राच्यां कुंकुमस-
दृशः स्वाभाविकः संध्यारागः स कुंकुममिवेत्युत्प्रेक्षा ।

कथंभूतां प्राचीं मुक्ताफलस्रग्विणीं मुक्ताफलानां स्रक्
 मुक्ताफलहारः सोस्ति यस्याः सा मुक्ताफलस्रग्विणी ता-
 म् । मत्वर्थीयो विनिः । अर्थान्नक्षत्रमालैव मुक्ताफलस्रक् ।
 कामिव दर्शयन् प्राचेतसीं दिशमिव प्रचेतसो वरुणस्ये-
 यं प्राचेतसी तां प्रतीचीम् । इव यथार्थे । यथा प्राचीं तथा
 प्राचेतसीमिति । तेन प्राचीदिशं प्राचेतसीं च दिशं दर्श-
 यन्निति भावः । कथंभूतां प्राचेतसीम् । कौसुंभांशुकभा-
 सिनीं कुसुंभ्याः पुष्पाणि कुसुंभानि तै रक्तं कौसुंभं तच्च
 तदंशुकं च तेन भासते सा तथा । अर्थात्संध्याराग एव
 कौसुंभांशुकमिति । यद्वा—कौसुंभांशुकमिव भासते सा
 यावत्सायंसंध्याकाले एतादृशः संध्यारागः सुरभीरे-
 णवश्च दृश्यंते तावत्काले करग्रहकर्तुर्मंगलं स्यादिति
 तार्प्यार्थः ॥ १ ॥

उत्कर्णतर्णकविलोकनवल्गुवल्गत्पीनस्त-
 नोद्धृषितदुर्धरधेनुधूलिः ॥ गोधूलिकं सृजति
 गोपपृथग्जनानां दोषैर्महद्भिरपि लग्नमनून-
 मन्यैः ॥ २ ॥

अथ गोधूलिकप्रशंसां तदधिकारिणश्चाह । वसंत-
 तिलकाः पंच श्लोकाः । उद्धूर्वो कर्णो येषां ते उत्कर्णाः
 ते च ते तर्णकाश्च तर्णका वत्साः तेषां विलोकनं तेन
 वल्गवः शोभमानाः वल्गन्ति ता वल्गन्त्यः वल्गनं गतिवि-
 शेषः पीना मांसलाः स्तना यासां ताः पीनस्तनाः उद्धु-

त्कर्षेण हृषिताः संतुष्टा उद्धृषिताः । हृषेर्निष्ठायां वेङ्क-
त्वम् । दुःखेन धर्तुं शक्यन्ते ताः दुर्धराः उत्कर्णतर्णक-
विलोकनेन वल्गवश्च ता वल्गन्त्यः पीनस्तना उद्धृषिता
दुर्धराश्च तत्र धेनवश्च तासां धूलयस्तास्तथा ताः कर्म ।
गोधूलिकं लग्नं कर्तुं गोपपृथग्जनानां सृजत्युत्पादयति
ददातीत्यर्थः । गवां धूलयस्तत्र भवं तदुपलक्षितकाले
जातं लग्नं तद्गोधूलिकं गोपाः पशुपालकाः पृथग्जना
हीनवर्णाः गोपादीनां गोधूलिलग्न्ये एवंविधधेनवो भवं-
तीति भावः । अस्य प्राशस्त्यमाह-दोषैरिति । कथंभूतं
लग्नम् अन्यैर्महाद्भिर्दोषैः अनूनं सहितमपि । अयं भावः—
गोधूलिकलग्न्ये सदा सप्तमः सूर्योऽस्त्येव । अयं महा-
दोषः 'मदनमूर्तिशय' इत्युक्तत्वात् । एतदन्यैर्महादोषैर-
ष्टमभौमादिभिः सहितमपि लग्नं शुभं भवेदिति ॥ २ ॥

गोधूलिकेऽपि विधुमष्टमषष्ठमूर्तिं यन्मोच-
यन्ति तदयंस्वरुचिप्रपञ्चः ॥ पञ्चांगशुद्धिमय-
मेव विवाहधिष्ण्यैर्यस्मादिदं सततमस्तगते
पतंगेः ॥ ३ ॥

यद्येवं तर्हि केचित्पष्टाष्टमचन्द्रे सति लग्नस्य भंगमा-
हुस्तन्निरस्यति । गोधूलिकेऽपि अष्टमषष्ठमूर्तिं विधुं
यत्केचिन्मोचयन्ति त्याजयन्ति—तत्तस्मात्कारणादयं स्वरु-
चिप्रपञ्चः, अष्टमं च षष्ठं च अष्टमषष्ठे तयोर्मूर्तिर्देहो

यस्यासौ तथा । अष्टमषष्ठस्थित इत्यर्थः । तद्वाक्यं च-
 'जामित्रं न विचिंतयेद्ब्रह्मयुतम्' इत्यादि । 'हित्वा चंद्र-
 मसं षडष्टमगतं गोधूलिकं शस्यते' इति । अयं स्वरुचेः
 स्वस्याभिरुचेः प्रपंचो विस्तारः । यद्वा—स्वरुच्या कृत्वा
 प्रपंचो व्यामोहनं जनानाम् । तस्मात्कुतः यस्मादिदं
 गोधूलिकं विवाहधिष्ण्यैः सह पंचांगशुद्धिमयमेव पंचा-
 गशुद्ध्या प्रधानं पंचांगशुद्धिमयं गोधूलिके विवाहनक्ष-
 त्रेषु सत्सु पंचांगशुद्धिरेव मुख्या न त्व यल्लग्रशुद्ध्यादि-
 कमिति । पंचांगानि तिथ्यादीनि प्रसिद्धानि । तेषां
 शुद्धिः स्वाभाविकदोषविरहः । यथा रोहिण्यादिषु वि-
 वाहे हितत्वात् । तर्हि विवाहधिष्ण्यैरिति पौनरुक्त्यं त-
 न्नक्षत्रस्य प्राधान्यात् । उक्तधिष्ण्यमधिकृत्य पंचांगशु-
 द्धिर्विलोकयेत्यर्थः । एतदग्रे प्रपंचायिष्यामः । एतत्कथं
 यस्मात्कारणादिदं गोधूलिकं सततं नित्यमस्तगते सप्त-
 मगते पतंगे सूर्ये सति भवेत् । एतादृशे महादोषे गृहीते
 सति किं त्वन्ये षष्ठाष्टमचंद्रादय इति भावः । अनेनैव
 अष्टमभौमादयोपि निराकृताः ॥ ३ ॥

नांशो न लग्नमिह दृष्टयुतं स्वभर्त्रा नाकार-
 सौरतमसामपि संगभंगः ॥ किं चंद्रचारभ-
 यमेकमिहास्तु किंचिन्नात्र प्रमाणवचनं
 किमपि श्रुतं नः ॥ ४ ॥

किंच इहास्मिन् गोधूलिके अंशो नवांशः स्वभर्त्रा स्वस्वामिना दृष्टयुतो नास्तु, लग्नं च स्वभर्त्रा दृष्टयुतं नास्तु, अर्कारसौरतमसां सूर्यभौमशनिराहूणां संगो योगस्तेन भंगो लग्नभंगः सोऽपि नास्तु । एवं सत्येकं चंद्रचारभयं किमस्तु । चंद्रस्य चारस्तस्माद्भयं हित्वा चंद्रमसं षष्ठाष्टमगतमिति । एतदेकं कथमस्त्विति । अपि तु तदपि नास्तु । नन्वत्रागम एव प्रमाणमिति चेत्तत्राह—किंचिदिति । अत्रास्मिंश्चंद्रचारविषये नोस्माकं प्रमाणवचनं किमपि किंचित् न श्रुतम्, अस्मिन्विषये यद्वाक्यं प्रमाणीकर्तव्यं तादृशं महर्षिसंमतवाक्यं नास्तीति भावः ॥४॥

सार्कं शनौ विरवि चित्रशिखंडिसूनौ तत्केवलं कुलिकयामदलोपलंभात् ॥ प्रायेण संकरभुवामशुभर्क्षपक्षरक्षणेऽपि शुभकृत्करपीडनं स्यात् ॥ ५ ॥

तर्ह्यत्र किं विलोक्यमित्याह—तद्गोधूलिकं शनौ शनिवारे सार्कं कार्यं दृश्ये रवौ सतीति । चित्रशिखंडिनः सूनौ गुरुवारे विरवि कार्यं, विगतो रविर्यस्मात्तद्विरवि अस्तंगतेऽर्के सतीति । कस्मात् कुलिकयामदलोपलंभात् कुलिकश्च यामदलं च तयोरुपलंभः प्राप्तिः । शनौ हि रात्रौ प्रथममुहूर्ते कुलिकः अतः सार्कं, गुरौ तु अष्टमयामार्धमतो विरवीति, केवलमिदमेव पंचांगमध्ये वारदोष

सद्भावात् । न त्वन्यदिति । एतत् किं तत्राह—प्रायेणेति ।
 संकरेण जातिसंकरेण भवंति ते संकरभुवः तेषां हीन-
 वर्णानां करपीडनं प्रायेण बाहुल्येन अशुभर्क्षपक्षकूर-
 क्षणेषु शुभकृत्स्यात् । ऋक्षं च पक्षश्च ऋक्षपक्षौ अशुभौ
 च तौ ऋक्षपक्षौ च तौ तथा, कूरश्चासौ क्षणश्च स तथा
 अशुभर्क्षपक्षौ च कूरक्षणश्च ते तथा । एतदुपलक्षणादु-
 ष्टवारयोगादिष्वपि । एष्वपि हीनवर्णानां पाणिपीडनं
 शुभं किं पुनः पंचागशुद्धाविति भावः । तथा च शौनकः—
 “अन्त्यानामशुभर्क्षे” इत्यादि ॥ ५ ॥

अत्रोभयत्र घटिकादलमिष्टमाहुर्ग्राह्यस्त-
 दंबरमणेरपि नार्धबिंबः ॥ कालार्गलानिय-
 तये तपनार्धबिंबवेलाव्यवस्थितिरियं रच-
 यांबभूवे ॥ ६ ॥

इति विवाहवृन्दा गोधूलिकाध्यायो नवमः ॥९॥

यदुक्तं सार्कमित्यादि तत्परिमाणमाह—अत्रास्मिन्
 गोधूलिके यस्मात्कारणादुभयत्र अर्धास्तमयात्प्राक्प-
 श्चाच्च घटिकादलमिष्टमाहुः । तत्तस्मात्करणादंबरमणेः
 सूर्यस्य अर्धबिंबोपि कालो न ग्रह्यः । अर्धबिंबं काले
 यस्मिन्स तथा । तर्हि तद्वाचकवाक्यानामर्धोदितेर्धा-
 स्तमिते सूर्यबिंबे दृशं गत इत्यादीनां गतिमाह—काला-
 र्गलेति । इयं तपनार्धबिंबवेलाव्यवस्थितिः कालार्गला

नियतये मुनिभिः रचयांबभूवे अरचि । णिजंताद्रचतेः
 कर्मणि लिटि भुवोनुप्रयोगः । तपनस्य अर्धर्बिबं तस्य
 वेला कालः तस्य व्यवस्थितिर्वस्थानं कालस्य अर्गला
 तस्या नियतिर्नियमः इयमर्धर्बिबात्मिका वेलाव्यव-
 स्थितिः कालमध्यनियमाय रचिता किंतु तत्पूर्वं तत्प-
 श्चाच्च कालांतरमस्ति अर्धघटिकात्मकवाक्यांतरदर्शना-
 दिति भावः । तथा चाहुः—“दिनांते सूर्यर्बिबार्धपूर्वं पश्चा-
 द्घटीदलम् । कालार्गलेव वेलायां धात्रोद्वाहाय निर्मिता”
 इति । अत्र गोधूलिकेपि विधुपष्टमषष्ठेत्यादि यदुक्तं
 ग्रंथकृता तत्सम्यग्विचारपदवीं नाधिरोहति । तथाहि
 यदुक्तोत्र हेतुः ‘पंचांगशुद्धिमयमेव विवाहधिष्ण्यैः’ इत्या-
 दिना तत्र पृच्छ्यते केयं पंचांगशुद्धिरिति, पंचांगानि
 तिथ्यादीनि प्रसिद्धानि नारदवसिष्ठादिभिः ‘पंचांगशु-
 द्धिविरहदोषस्त्वाद्यः’ इत्यादिना महादोषप्रकरणोभिहि-
 तानि तेषां शुद्धिर्दोषविरहः दोषो द्विधैव प्राकृतिक आगं-
 तुकश्चेति यस्मिन्कर्मणि यदभिहितं न तिथ्यादिकं तस्मि-
 न्प्राकृतिको दोषः यथा विवाहे दर्शव्यतिपातभरण्यादौ
 आगंतुको ग्रहाधिजनितः, यथा तिथौ दग्धत्वं नक्षत्रे पा-
 पवेधादिकमिति । अतः पंचांगानां प्राकृतिकदोष एवात्र
 शुद्धिः । न त्वागंतुकदोषविरहः । तस्य योगकरणयोरन-
 भिधानात् । अपि च शुद्धिशब्देन आगंतुकदोषविरहे
 उच्यमाने वारदोषः “स्वार्जूरिकसमांघ्रिभम्” इत्यादि-

नारदादिपठितेषु दोषेषु पौनरुक्त्यापत्तिः । एकविंशति-
परिगणनाया असंभवश्च तस्मात्पंचांगानां प्राकृतिकदो-
षविरह एव शुद्धिरिति स्थितम् । अत एवविधा या पंचा-
ंगशुद्धिस्तन्मयमेव गोधूलिकम् इत्युक्तं भवति । अथ
यदीदृशं ब्रूये—पंचांगशुद्धिमयमेव विवाहधिष्ण्यैरिति
वदतोयमाशयः विवाहविहितनक्षत्रे सति पंचांगानां ग्र-
हादिजनितदोषाभावलक्षणा शुद्धिर्विवक्षिता । तदपि न
योगकरणयोस्तस्यासंभवात् । यथासंभवमिति चेत्तदपि
न, पंचपदस्य वैयर्थ्यात् । अतः शुद्धिशब्देन प्राकृतिकदो-
षाभावः स्वीकर्तव्यस्तर्हि पंचांगशुद्धिबाह्यैः सार्क शना-
वित्यादिना कुलिकार्धयामौ कथं त्यज्येते वारदोषादिति
चेत्तत्र नारदवासिष्ठादिभिः ‘पंचांगशुद्धिविरह’ इत्यादिप-
ठितदोषेषु वारदोषस्य पृथक्ग्रहणात् । तर्हि “कुलिकं
क्रातिसाम्यं च” इत्यागमबलात्कुलिकार्धयामौ त्यज्येते ।
यद्येवं षष्ठाष्टमचंद्रेण किमपराद्धं सोप्यागमबलात्त्यज्यते ।
नात्र प्रमाणवचनं किमपि श्रुतमपि चेत्तदपि न यत
आगमप्रमाणवाक्यानि संत्येव—“षष्ठेष्टमे मूर्तिगते च
चंद्रे गोधूलिके मृत्युमुपैति कन्या । कुजेष्टमे मूर्तिगते-
थवास्ते वरस्य नाशं प्रवदति गर्गाः ॥” धिष्ण्यं ऋयुतं
त्याज्यं मूर्तौ षष्ठाष्टमे विधुः । कुजो रंध्रास्तलग्ने च—विना
रंध्रं शुभैर्युक्तं गोधूलं शुभदं भवेत्” इत्यादीनि । एतान्य-
बहुसंमतानीति चेत्तदपि न । ‘प्रत्याख्येयः पाक्षिकोपीह

दोषः' इत्युक्तत्वात् । किमुत बहुक्तेः । अतः षष्ठाष्टमचंद्रा-
दयो गोधूलिके उक्तदोषास्तेपि त्याज्या इति सिद्धम् ॥ ६ ॥

इति श्रीसकलागमाचार्यवर्यश्रीकेशवसांवत्सरात्मज-
गणेशदेवज्ञविरचितायां विवाहवृंदावनटीकायां वि-
वाहदीपिकायां गोधूलिकाध्यायो नवमः ॥ ९ ॥

अथ मासगोचरविचाराध्यायः ।

चैत्रे मासि प्रतिपदि तिथौ वासरेऽर्कस्य
सर्वैर्मेषादिस्थैर्गगनगतिभिर्भूर्भुवः स्वः प्रवृ-
त्तिः ॥ एवं पौषे मृगमुखगते भास्वति
स्यान्न चासावुक्तः श्रेयान्परिणयविधाविंदु-
मासोस्ति तस्मात् ॥ १ ॥

अथ विवाहमासगोचरविचाराध्यायो व्याख्यायते ।
तत्रादौ सौरचांद्रमासयोर्विचारमाह । मंदाक्रांता । यस्मा-
त्कारणाच्चैत्रे मासि शुक्लप्रतिपदि तिथौ रवेर्वासरे सर्वैर्गग-
नगतिभिः रव्यादिग्रहैः मेषादौ स्थितैर्भूर्भुवः स्वः प्रवृत्तिः
आसीत् । भूर्भुवःस्वरित्यव्ययानि क्रमेण लोकत्रयवाच-
कानि । तथा चोक्तं गोलाध्याये- 'भूलोकाख्यो दक्षिणे व्यक्ष-
देशात्तस्मात्सौम्योयं भुवः स्वश्च मेरुः' इति । अतः पृथि-
वी एतल्लोकत्रयाधिष्ठिता एषा लोकानां प्रवृत्तिः प्रथमनि-
र्माणं 'सृष्ट्वा भवक्रं कमलोद्भवेन' इति 'लंकानगर्यामुदयाच्च

भानोः' इति च यदुक्तं तत्पौषमासे मृगमुखगते मकरादि-
स्थिते भास्वति भास्करे नासीत् तस्मात्कारणात्परिणय-
विधौ इंदुमासः चांद्रमासः श्रेयान् श्रेष्ठ उक्तः । अयं भावः-
लंकायाः क्षितिजगतयोर्मेषादिस्थितचंद्रार्कयोः किल लो-
कत्रयस्य युगपत्प्रवृत्तिः । तत्र चंद्रार्कयोः समकलत्वाच्चां-
द्रमासादिः स एव, मेषगतार्कत्वात्स एव चैत्रमासः तदा-
नीमादित्यस्यैव होरा अतर्कवारः इत्यादि सर्वं पौषे
मकरादिस्थितेर्के न घटते यतः सौरवर्षमासादेः प्रवृत्तिः
संहिताकारैर्मकरादेरेव स्वीकृता उक्तं च—“मृगादिराशि-
द्वयभानुभोगात्” इति । अतश्चंद्र एव मुख्य इति ग्रंथ-
कारोक्तिः, नैतच्चतुरसम् । प्रवृत्तिकाले मेषादिगतार्कत्वा-
त्सौरमासस्यापि प्रवृत्तेः सा । फलकीर्तनायैव वास्त-
वं तु मेषादेरेव ग्रहगणिते प्रसिद्धा तथा चोक्तम्—‘दिनं
सुराणामयनं यदुत्तरम्’ इत्यादि । किंच प्रवृत्तिकाले
चांद्रादिनं वर्षादेरापि प्रवृत्तेस्तस्यादिमुख्यत्वं कथन्न वक्तव्यं
तस्मादनया युक्त्या चांद्रमासस्य श्रेष्ठत्वं वक्तुमनुचितं
किंतु युक्त्यंतरसंहितागमबलात् तदुच्यते—“नक्षत्रेण
युक्तः कालः” । “सास्मिन्पौर्णमासीति संज्ञायाम्”
इति च पाणिनेरनुशासनात्पौषीत्यादिसंज्ञा सौरादौ
नोपपद्यते । तस्माच्चांद्रमास एव मुख्य इति । अतः
एवाह नारदोपि—“यस्मिन्मासे पौर्णमासी येन धिष्ये
न संयुता । तन्नक्षत्राह्वयो मासः पौर्णमासी तदाह्वया ॥
तत्पक्षौ शुक्लकृष्णारूयौ देवपित्र्यौ च तावुभौ” इति । अ-

भिधानं च—“पक्षौ पूर्वापरौ शुक्लकृष्णौ मासस्तु तावुभौ”
इति । अत एव सिद्धांतेषुक्तम्—‘मासास्तथा च तिथ-
यस्तुहिनांशुमानात्’ इति । अतः सौरादौ मासप्रयोगो
गौणवृत्त्या योजनीय इत्यस्माकं सिद्धांतः तर्हि “रवे-
रवैसारणमुत्तरायणम्” इति विवाहे सौरमासाः कथमु-
क्ताः ‘नाषाढप्रभृतिचतुष्टये विवाहः’ इत्यनेन चांद्रमासा
ग्रंथांतरे उक्ताः ॥ १ ॥

नेष्टः पौषो मृगयुजि रवावाहतश्चेत्प्रवीणै-
श्चारुश्चैत्रोप्यजसहचरे भास्करे सुंदरी-
णाम् ॥ माण्डव्याद्यैः स्मृतशुभफलस्यास्य
किं नोपयामे मीनोपि स्यादविकृतफलः
फाल्गुनस्य प्रसंगात् ॥ २ ॥

अनयोर्विरोधे सति सयुक्तिकं निर्णयं वक्तुं पूर्वपक्ष-
माह । मंदाक्रांता । सुंदरीणामुपयामे विवाहे मृगयुजि
मकरगते रवौ पौषो नेष्टः मकरगतार्कस्य शुभत्वेपि
अशुभपौषयोगात्स नेष्ट इति भावः । ननु विपरीतं कुतो
न स्यादित्यत्राह—आहत इति । प्रवीणैः पंडितंमन्यैः
मृगयुजि रवौ पौषश्चेदाहतः स्वीकृतः मकरार्कस्य शुभ-
त्वात् तदा चैत्रोपि—अजसहचरे मेषगते भास्करे सति
चारुः शुभः स्यात् । न चैवमस्ति । किंच अस्य प्रसि-
द्धस्य फाल्गुनस्य फलं माण्डव्याद्यैः स्मृतशुभफलस्य

प्रसंगाद्योगात् मीनो मीनगताकोऽपि अविकृतफलः किं न स्यात् अपि तु अविकृतफल एव, न विकृतं फलं यस्यासौ तथा यथावत्फल एवेत्यर्थः । शुभस्यापि फाल्गुनस्य योगात् दुष्टोऽपि मीनो दुष्टफल एवेति भावः । न चाप्येवमस्ति एवं सौरप्राधान्यं स्वीकर्तुरनिष्टद्वयम् ॥२॥

शुभो न निन्द्यो यदि फाल्गुने स्यादजस्तु वैशाखगतो न निन्द्यः ॥ मध्वाश्रितौ द्वावपि वर्जनीयावित्यादिवाचामियमेवमुक्तिः ॥३॥

एवं सति सिद्धांतमाह । उपजातिका । यदि फाल्गुने शुभो मीनगतार्कस्तदा न निन्द्यः चांद्रस्य मुख्यत्वात् । एतत्प्रसंगेन व्रतबंधेऽपि निर्णयमाह—मेष इति । मेषो मेषगतार्कस्तु यदि वैशाखगतस्तदा न निन्द्यः 'मेषके च व्रतं न हि' इत्युत्तरेऽशुभस्यापि मेषस्य शुभवैशाखयोगाच्छुभत्वमिति भावः । प्रकृतमाह—मध्वाश्रितेति । मध्वाश्रितौ चैत्रमासगतौ द्वौ मीनमेषगतार्कावपि वर्जनीयौ चैत्रस्य दुष्टत्वात् । मीनस्तु स्वरूपत एवाशुभः । मेषस्तु चैत्रयोगादिति चांद्रस्य मुख्यत्वादिति सर्वत्र हेतुः । इत्यादिवाचां इत्यादिवादिनां युक्तिरियमेव इत्यादिकमुक्तवतां युक्तिरियमुक्तैवेत्यर्थः ॥ ३ ॥

प्रायः सौरं मानामिष्टं विवाहे तार्त्तिकं चांद्रं मासमाहुः फलेन ॥ यस्मात्सम्यक्तत्फलाप्तिस्तदैक्ये सौरो मासः केवलः किंचिदूनः ॥४॥

यदि हि चांद्रे मुख्यत्वं तदा पृथक् सौरमानं कथ-
मुक्तमित्याशंक्याह । शालिनी । यदि प्रायो बाहुल्येन
सौरमानं विवाहे स्वीकृतं तत्तदा फलेन चांद्रमासं
किमाहुः शौनकादयः—“धनमानपरिभ्रष्टा चैत्रे चातृ-
त्तमैथुना । त्वसती ” इत्यादिना । यस्मादेतौ सौरचांद्र-
मासौ विवाहे उक्तौ तस्मात्तदैक्ये तयोः सौरचांद्रमा-
सयोरेकत्वे सति फलातिः सम्यक् परिपूर्णा स्यात् ।
केवलः सौरमासः चांद्रापेक्षया किञ्चिदूनः चांद्रस्य
मुख्यत्वादित्यर्थः ॥ ४ ॥

योषितां गुरुपतंगगोचरे शोभने शुभकरः
करग्रहः ॥ अष्टवर्गविधिना तदत्यये सूर्य-
शुद्धिमपरे नृणां जगुः ॥ ५ ॥

एवं सौरचांद्रयोर्बलाबलमुक्त्वा गोचराष्टकवर्गयोर्ब-
लाबलमाह । रथोद्धताः । योषितां स्त्रीणां गुरुपतंगयोः
गुरुसूर्ययोगोचरे शोभने सति गोचरविधिना गुरुबले रवि-
बले च सतीत्यर्थः । करग्रहः शुभकरः स्यात् । तदत्यये
तस्य गोचरबलस्यात्यये अलाभे सति अष्टवर्गविधिना
गुरुपतंगबले सति मतांतरमाह—सूर्यशुद्धिमिति । अपरे
नृणां पुरुषाणां सूर्यशुद्धिं जगुः न तु गुरुशुद्धिं, गोचरवि-
धिना तदलाभे अष्टवर्गविधिनेति । उक्तंच प्राक्—भानुर-
प्युपचयेति, पुरुषाणां गुरुशुद्धिस्तु व्रतबंध एव अतो न

विवाहे, शूद्रादीनां तु व्रतबंधाभावाद्विवाह एव गुरुशुद्धिः
सूर्यशुद्धिश्चेति ॥ ५ ॥

अष्टवर्गफलमेव जातके नास्य किं परिण-
येपि मुख्यता ॥ सत्यमुद्रहनजन्मशास्त्रयो-
रन्यता मुनिभिरेव संस्मरे ॥ ६ ॥

नन्वत्र गोचरस्य कथं मुख्यत्वं तत्राह—जातके अ-
ष्टवर्गफलमेवास्ति तत्र यच्चंद्रराशिफलं तदेव गोचरफलं
संहितासु पठितम् अतोस्य अष्टवर्गफलस्य परिणयेपि
मुख्यता किं न स्यात् गोचरफलं ह्येकस्माच्चंद्रराशेरेव ।
अष्टवर्गफलं त्वष्टराशिभ्यः अतोस्याधिक्यात् परिणयेऽ-
पि तत्प्राधान्यं कथं न स्यादिति भावः । एतदधार्मीकारेण
परिहरति—सत्यमिति । जातके अष्टवर्गफलं मुख्यमिति
मन्यामहे परिणयेपि मुख्यतेति न सहामह इति कथम्
उद्रहनजन्मशास्त्रयोः विवाहशास्त्रजन्मशास्त्रयोरन्यता
अन्यत्वं मुनिभिरेव संस्मरे स्मृता । विवाहशास्त्रस्य
जन्मशास्त्रस्य च भेदो मुनिभिरेव स्मृत इति ॥ ६ ॥

क्रूरमष्टममरिष्टमिष्टदं सप्तमं शुभमुशंति
जन्मनि ॥ नेयमुद्रहनरीतिरित्यसावत्र गो-
चरपथो रथोद्धतः ॥ ७ ॥

इति विवाहवृन्दावने मासगोचरविचारा-
ध्यायो दशमः ॥ १० ॥

अत्रोदाहरणमाह—जन्मनि जन्मकाले अष्टमं क्रूरम-
 रिष्टमशुभमुशंति सप्तमं शुभग्रहम् इष्टदं शुभप्रदमुशंति
 कांक्षंति मुनयः । इयमुद्रहनरीतिर्विवाहमार्गो न भवति ।
 तथाहि जन्मकालेऽष्टमः क्रूरग्रहोऽशुभः विवाहे तु शुभः
 जन्मकाले सप्तमः शुभग्रहः शुभः विवाहे त्वशुभः अतो-
 ऽनयोः शास्त्रयोरन्यथात्वमिति हेतोरत्र विवाहेऽसौ गो-
 चरपथो गोचरमार्गः रथोद्धतः रथैरुद्धतः अतिघृष्टः अस्य
 मार्गे श्लेषः गोचरमार्गः पारंपर्यागतः स्फुट इत्यर्थः ।
 रथोद्धत इति छंदसोपि नाम सूचितम् ॥ ७ ॥

इति श्रीसकलागमाचार्यवर्यश्रीकेशवसांवत्सरात्मज-
 गणेशदेवज्ञविरचितायां विवाहवृंदावनटीकायां विवाह-
 दीपिकायां मासगोचरविचाराध्यायो दशमः ॥ १० ■

अथ ग्रहयोगाध्यायः ।

चक्रस्यार्धे प्राचि पश्चात्क्रमेण क्रूराऽक्रूरैश्च-
 क्रमित्यामनन्ति॥अत्रोदायाः सुभ्रुवः स्वैरि-
 णीत्वे भ्राम्यत्युच्चैश्चक्रवच्चित्तवृत्तिः ॥ १ ॥

अथ प्रातिस्विकं भावफलमुक्त्वा योगजमाह । शा-
 लिनी । चक्रस्य प्राचि अर्द्धे पश्चादर्द्धे क्रमेण क्रूराक्रूरैः
 कृत्वा चक्रमिति योगमामनन्ति मुनयः । एतदुक्तं भवति-
 दशमभावभागानारभ्य चतुर्थभावभागपर्यंतं चक्रस्य पू-
 र्वार्द्धं, चतुर्थभावभागानारभ्य दशमभावभागपर्यंतं पश्चि-

मार्द्धं तत्र चक्रस्य पूर्वार्द्धे यदा क्रूरा ग्रहाः पश्चिमार्द्धे सौ-
म्यास्तदा चक्रं नाम योगः स्यादिति । अस्य फलमाह—
अत्रेति । अत्र योगे ऊढायाः परिणीतायाः सुभ्रुवः सुष्ठु
भ्रुवौ यस्याः सा सुभ्रूः तस्या योषितश्चित्तवृत्तिः म-
नोवृत्तिः स्वैरिणीत्वे पौंश्चल्यविषये चक्रवदुच्चैर्भ्राम्यति
“चतुर्थे स्वैरिणी प्रोक्ता पंचमे बंधकी स्मृता” इति स्मृ-
तिः । चतुर्थे चतुर्थपुरुषोपभोगे पौंश्चल्यविषये तस्या म-
नोवृत्तिरतितरां चक्रवद्धमतीत्यर्थः । अयं सर्वग्रहकृतो
योगः ॥ १ ॥

तनुनिमीलनगैश्च शुभाशुभैर्ध्वज इतीह
कृतोद्ग्रहना वधूः ॥ सगुणलाभवती भवती-
गितैः प्रियमनोयमनोन्मुखविभ्रमा ॥ २ ॥

द्रुतविलंबितानि । तनुर्लग्नं निमीलनमष्टमं तत्र गतैः
क्रमेण शुभाशुभैः लग्नस्थैः शुभैरष्टमस्थैः पापग्रहैरित्यर्थः ।
अयं ध्वज इति योगः, इहास्मिन्योगे कृतोद्ग्रहना वधूः
सगुणलाभवती भवति कृतमुद्ग्रहनं यस्याः सा तथा । गुणैः
सह वर्तमानः सगुणः स चासौ लाभश्च सोस्या स्ती-
ति सगुणलाभवती । पुनः कथं भूता इंगितैः स्वचेष्टितैः
हावभावादिभिः प्रियमनोयमनोन्मुखविभ्रमा प्रियस्य
भर्तुर्मनः प्रियमनः तस्य यमनमाकर्षणं तत्रोन्मुखः वि-
भ्रा विलासो यस्याः सा तथा “विभ्रमो भ्रांतिहावयोः”—
इति विश्वः ॥ २ ॥

अखिलकेंद्रसखैः खलखेचरैर्भवति वापिरि-
हार्पितपुंस्करा ॥ युवतिरुज्झितकांतगृहा
गृहे जनयितुः कुरुते कुरतोत्सवान् ॥३॥

अखिलानि च तानि केंद्राणि च तेषां सखायस्ते तथ
टच् । चतुर्ष्वपि केंद्रेषु गतैः खलखेचरैः पापग्रहैः वापि-
नाम योगो भवति । इहास्मिन्योगे अर्पितपुंस्करा अ-
र्पितो दत्तः पुंसे वराय करो यया सा परिणीतेत्यर्थः ।
युवतिः स्त्री उज्झितकांतगृहा सती उज्झितं त्यक्तं कांत
गृहं भर्तृगृहं यया सा तथा । जनयितुः पितुर्गृहे कुरतो-
त्सवान्कुरुते कुत्सितानि रतानि कुरतानि तेषामुत्स-
वा आनंदाः ॥ ३ ॥

गगनतोयतपस्सु शुभैर्भृगुर्गदति शंखमशं
स्वलयत्यसौ ॥ धनयशोनयशोभितनु-
श्रियां परिणयेन पयोरुहचक्षुषाम् ॥ ४ ॥

गगनं दशमं तोयं चतुर्थं तपो नवमं तेषु यथातथं
स्थितैः शुभग्रहैः शंखसंज्ञं योगं भृगुमुनिर्गदति असौ योगः
अशम् असुखं स्वलयति प्रतिबध्नाति निराकरोतीत्यर्थः ।
केन परिणयेन कासां पयोरुहचक्षुषां पयोरुहं कमलं
तद्ब्रह्मक्षुयासां तास्तथा तासां, स्त्रीणां कथंभूतानां धनय-
शोनयशोभितनुश्रियां धनं च यशश्च नयश्च तैः शोभते
सा धनयशोनयशोभिनी तनोर्वपुषः श्रीः कांतिः तनुश्रीः
धनादिशोभिनी तनुश्रीर्यासां तास्तथा ॥ ४ ॥

एकादशे कुजरवी रविजः सपत्ने वित्ते विधु-
स्तपसि शेषनभश्चराश्चेत् ॥ श्रीवत्स एष
सुखयत्यपि रूपरिक्तां सौभाग्यभोगभरभं-
गितरंगितांगीम् ॥ ५ ॥

वसन्तातिलका । एकादशे कुजरवी, सपत्ने शत्रौ षष्ठे
रविजः शनिः, वित्ते धने विधुः, तपसि नवमे शेषनभश्चराः ।
कुजरविशनिचन्द्रव्यतिरिक्ताश्चेत्स्युः तदा श्रीवत्सो नाम
योगः एष योगः रूपेण रिक्ता रूपरिक्ता सौन्दर्यहीना ता-
मपि स्त्रियं सुखयति । कथंभूता सौभाग्येति । सौभाग्यस्य
भोगः तस्य भरो भारः तस्य भंगी रचना तथा तरं-
गितानि तरंगाः जाता येषु तानि तरंगितानि तानि अं-
गानि यस्याः सा तथा ॥ ५ ॥

सौम्या मूर्तो स्वांतराश्योरसौम्याः कुर्यु-
र्योगं कार्मुकं कन्यकास्मिन् ॥ हत्वा कांतं
कांतवेषा विषाद्यैर्वेश्यारामं रंरमीति स्वर-
त्या ॥ ६ ॥

शालिनी । मूर्तो लग्ने सौम्याः, स्वांतराश्योर्द्वितीय-
द्वादशयोर्यथा तथा असौम्याः पापाः कार्मुकं नाम योगं
कुर्युः । अस्मिन्योगे परिणीता कन्यका कांतवेषा सती
वेश्यारामं रंरमीति अतिशयेन रमत इति रंरमीति । य-
डो लुक् । वेश्याः रमयतीति वेश्यारामः वेश्योपभोगी

तमप्येषा अतिशयेन रमयतीति । कया स्वरत्या-
निजोपभोगकौशलेन, किं कृत्वा विषादयैः विषशस्त्रा-
द्धन्नादिभिः कांतं भर्तारं हत्वा ॥ ६ ॥

सुनौ शुक्रः सांगिरा गौररश्मिर्दुश्चिक्ये स्या-
दंगनाभ्युद्गमश्चेत् ॥ आनंदोयं सुंदरी सांद्र-
सौख्या तेनानंदं वंशयोर्विस्तृणाति ॥ ७ ॥

सुनौ पंचमे शुक्रः, दुश्चिक्ये तृतीये सांगिराः सगुरुः
गौररश्मिश्चंद्रस्तदांगनाभ्युद्गमश्चेत्स्यादंगनाया अभ्युद्ग-
मोभ्युदयो विवाह इति यावत् । यद्वा--अंगनाभ्युद्गमः क-
न्यालग्नं तदायन् आनंदो नाम योगस्तेन योगेन सुंदरी
सांद्रसौख्या सांद्रं निबिडं सौख्यं यस्याः सा तथा
वंशयोः पितृभर्तृवंशयोरानंदं विस्तृणाति विस्तारयति-
णिजंतर्भावः ॥ ७ ॥

व्ययरिपुहिबुकेषु वक्रशुक्रद्युमणिसुतैः क्र-
मशः कुठार एषः ॥ इह विहरति संहत-
स्ववंशा विटपतले पटलेखिताभिसारा ॥ ८ ॥

पुष्पिताग्राः । व्ययो द्वादशं रिपुः षष्ठं हिबुकं चतुर्थं
एषु वक्रो भौमः शुक्रः प्रसिद्धः द्युमणिसुतः शनिः
एभिः क्रमशः स्थितैः एषः कुठारो नाम योगः स्यात् ।
इहास्मिन्कुठारे योगे परिणीता विटपतले भंडसमूहे वि-
हरति क्रीडते । कंथभूता संहतो मारितः स्ववंशो यया सा
तथा पटे वस्त्रांचले लेखितः अभिसारो यस्याः सा

तथा असंशयमभिसारिणीत्यर्थः । “नरं भोगार्थिनी
याति संकेतं साभिसारिका” इति अभिधानात् । यद्वा—
अभिचारेति पाठः । अभिचारो व्यभिचार एतत्पाठे
व्यभिचारिणीत्यर्थः ॥ ८ ॥

रविकविरविजेंदुभिः क्रमेण व्ययधनषणि-
धनेषु कूर्म एषः ॥ इह विहितकरग्रहा गृहाणि
भ्रमति भुजिष्यतया परःशतानि ॥ ९ ॥

रविः सूर्यः कविः शुक्रः रविजः शनिरिंदुश्चंद्रः एभिर्ग्र-
हैर्व्ययो द्वादशं धनं द्वितीयं षट् षष्ठं निधनमष्टनं
एषु यथाक्रमं स्थितैः एषः कूर्मो नाम योगः । इहा-
स्मिन्योगे विहितः कृतः करग्रहो यस्याः सा तथा परः-
शतानि गृहाणि भ्रमति । शतेभ्यः पराणि परःशतानि
पारस्करादित्वात्सुद् । यद्वा—परः शब्दो निपात इति
भोजराजः शतेभ्योऽधिकान्तिथ्यर्थः । कया हेतुभूतया
भुजिष्यतया दोषत्वेन भुजिष्याया भावो भुजिष्यता
‘त्वतलोर्गुणवचनस्य’ इति पुंवद्भावः । ‘नियोज्यकिंकर-
प्रेष्यभुजिष्यपरिचारकाः’ इत्यमरः ॥ ९ ॥

भवपरिभवविक्रमैः क्रमेण द्युमणिमहीसुत-
सौरिभिः सनाथैः ॥ परिणमति दलेंदुरिंदुमु-
ख्याः कुलयुगलोद्धतिधुर्यतां विधास्यन् ॥ १० ॥

भवः एकादशं परिभवः षष्ठं विक्रमस्तृतीयमभिः
स्थानैः द्युमणिः सूर्यः महीसुतो भौमः सूर्यस्यापत्यं सौरिः

शानिः तैर्यथाक्रमं सनाथैर्युक्तैः कृत्वा दलेंदुरर्धचंद्रो नाम
योगः परिणमति परिपोकं प्राप्नोति किं करिष्यन् इदुमु-
ख्याश्चंद्रवदनायाः स्त्रियाः कुलयुगलोद्धतिधुर्यतां विधा-
स्यन् करिष्यन् कुलयुगलं पितृकुलं भर्तृकुलं चेति त-
स्योद्धतिरुद्धरणं धुरं वहतीत्यर्थः । औपच्छंदसिकम् १० ॥

व्ययनिधनतनूषु मंदचंद्रारुणकिरणैर्मुसलं
जगुर्मुनीन्द्राः ॥ इह वृष्णिकुलांतके कुमारी
कुलमारी न च कापि कार्यसिद्धिः ॥ ११ ॥

व्ययो द्वादशं निधनमष्टमं तनूर्लग्नम् 'स्त्रियां मूर्तिस्त-
नुस्तनूः' इत्यमरः । तेषु यथाक्रमं मंदः शानिः चंद्रः प्रसिद्धः
अरुणकिरणः सूर्यः तैः स्थितैः कृत्वा मुसलं नाम योगं
मुनीन्द्रा जगुः । इहास्मिन्वृष्णिकुलांतके योगे वृष्णयो
यादवाः तेषां कुलं तस्यांतकं संहारकं मुसलमित्यर्थः ।
क्रीडद्विर्यादवैः सांबजठरे यद्वेष्टितं मुसलं तेन मुसलेन
यादवा विनष्टा इति भागवतादौ प्रसिद्धेः । अस्मिन्मुसले
योगे कुमारी कुलमारी कुलनाशिनी भवति न च कापि
कार्यसिद्धिर्भवति केवलकुलनाशिन्येवेत्यर्थः ॥ ११ ॥

तनुनवभवगैः क्रमेण योगो बुधविबुधार्चि-
तपंगुभिर्गजः स्यात् ॥ इह युवतिरहंकृता
कृतार्थान्वितरति दैवतदैवतत्परा वा ॥ १२ ॥

इति विवाहचृन्दावने ग्रहयोगा-
ध्याय एकादशः ॥ ११ ॥

पुष्पिताग्रा । तनुर्लभं नव नवमं भव एकादशं तेषु
 गतैः यथाक्रमं बुधः प्रसिद्धः विबुधार्चितो गुरुः पंगुः
 शनिः एभिः कृत्वा गजो नाम योगः स्यात् । इहास्मि-
 न्योगे युवतिः स्त्री अहंकृताऽहंकारं प्राप्ता सती कृता निष्पा-
 दिताश्च ते अर्थाश्च तान्वितरति ददाति । वा इत्यथवा
 युवतिः दैवतदैवतत्परा स्यात् दैवतानि च दैवं च दैवत-
 दैवानि तेषु तत्परा देवार्चनरता भाग्यरता चेत्यर्थः ।
 भाग्यवतीति यावत् ॥ १२ ॥

इति श्रीसकलागमाचार्यवर्यश्रीकेशवदैवज्ञसुतगणेश-
 विरचितायां विवाहवृन्दावनटीकायां विवाहदीपि-
 कायां ग्रहयोगाध्याय एकादशः ॥ ११ ॥

अथ ग्रहभावकुण्डलिकाध्यायः ।

चिरंजीवां जीवः कविरविरलानंगसुभगां
 शशांकोर्वीपुत्रौ यमयुवतिपार्श्वप्रणयिनी-
 म् ॥ बुधो भर्तुर्भक्तां मृगदृशमशीलां शनि-
 रापि त्रयीमूर्तिर्मूर्तौ मृजति शिखिशस्त्रादि-
 निधनम् ॥ १ ॥

पूर्वमरिपराक्रमेत्यादिना साधारण्येन ग्रहफलान्युक्तानि
अधुना प्रतिस्थानं तानि सविशेषाण्याह । तत्रादौ लग्न-
स्थग्रहाणां फलानि । शिखरिणी।मूर्तौ लग्ने स्थितो जीवः
मृगदृशं स्त्रियं चिरंजीवां सृजति चिरं जीवतीति चिरंजी-
वा । चिरमित्यव्ययं विभक्तिप्रतिरूपकम् । कविः शुक्रः
अविरलानंगसुभगां सृजति अविरलो निबिडश्चासौ अनं-
गश्च अनंगो मदनः तेन सुभगा सौभाग्यवती, शशांकश्चंद्रः
उर्वीपुत्रो भौमस्तौ यमयुवतिपार्श्वप्रणयिनीं सृजतः यम-
स्य युवतिः तस्याः पार्श्वं सामीप्यं तत्र प्रणयः प्रीतिरस्ति
अस्याः सा तथा तां यमलोककांक्षिणीमित्यर्थः । बुधो
भर्तुः भक्तां सृजति, शनिरपि अशीलां दुष्टशीलां, त्रयीमू-
र्तिः सूर्यः शिखिः अग्निः शस्त्रं प्रसिद्धं ते आदिर्येषां तानि
शिखिशस्त्रादीनि तेभ्यो निधनं यस्याः सा तथा ताम् ॥ १ ॥

नितांतधनिनीं धने सितसितांशुजीवेंदुजा
रुजादहनदस्युभिर्विधुरितां धरानंदनः ॥ सुते-
ष्वपि मितंपचां मलिनमूर्तेमर्कात्मजः स्त्रियं
सहजदुर्भगां जनयति द्युतीनां पतिः ॥ २ ॥

अथ धनभावस्य । पृथ्वीवृत्तमाधने द्वितीयभावे स्थिताः
सितसितांशुजीवेंदुजाः नितांतं धनिनीं जनयन्ति । सि-
तः शुक्रः सितांशुश्चंद्रः जीवो गुरुः इंदुजो बुधः नितां-
तं धनं तदस्त्यस्याः सा तथा । धरानंदनो भौमः रुजाद-

इनदस्युभिर्विधुरितां जनयन्ति रुजा रोगः 'आपं चैव ह-
लंतानाम्' इति टाप् । दहनोभिर्दस्यवश्चोराः सर्पादयः ।
वा विधुरा विधुक्ता भर्तृहीना तस्या भावो विधुरता वैधव्यं
पुंस्त्वं पूर्ववत्, अर्कात्मजः शानिः सुतेषु पुत्रेष्वपि विषये
मितंपचां मलिनमूर्तिं जनयति मितंपचतीति मितंपचा
कृपणा "मितनखे च" इति खशूखित्वान्मुम् । मलिना
मूर्तिर्यस्याः सा तथा । द्युतीनां पतिः सूर्यः सहजदुर्भगां
जनयति सह जातः सहजं स्वाभाविकं दुर्भगमदैवं
यस्याः सा तथा । यद्वा—सहजे सोदरविषये दुर्भगो
यस्याः सा तथा ॥ २ ॥

इनशनी सहजे सधनां वधूं तनुधनां सचिवः
सुभगां शशी ॥ सुकृतिनीं कुरुतः कुजसोम-
जौ नयति देवारि देवारिपूपनीः ॥ ३ ॥

अथ तृतीयस्याद्भुतविलंबितम् । सहजे तृतीयभावे इन-
शनी रविशनी वधूं सधनां धनसहितां कुरुतः । सचिवः
शक्रसचिवो बृहस्पतिः तनुधनां करोति तनुकृशं धनं
यस्याः सा तथा । शशी चंद्रः सुभगां सुष्ठु भगो भाग्यं यस्याः
सा तथा । कुजसोमजौ भौमबुधौ सुकृतिनीं कुरुतः सुकृतं
पुण्यं तदस्त्यस्याः सा तथा । देवारिपूपनीः शुक्रः देवारि
दवर नयति प्रापयति देवरगामिनीत्यर्थः । देवानां रप-
वो दत्याः तानुपनयतेसौ देवारिपूपनीः दैत्यगुरुः । देव
ऋकारांतः "समौ तु देवदैवरा" इत्याभिधानात् ॥ ३ ॥

दारिद्र्यं रविरवनीसुतो वरांगव्याघातं गुरु-
भृगुजैन्दुजाः प्रभुत्वम् ॥ बाल्येब्जः प्रियवि-
युतिं शनिः स्तनांभः शून्यत्वं सृजति सुखे
सुवासिनीनाम् ॥ ४ ॥

अथ चतुर्थस्य । प्रहर्षिणी । सुखे चतुर्थभावे रविः दारि-
द्र्यं सृजति, अवनीसुतो भौमः वरांगव्याघातं वरांगं भगं
तस्य व्याघातो भंगः, गुरुभृगुजैन्दुजाः प्रभुत्वं सृजन्ति गुरु-
र्बृहस्पतिः भृगुजः शुकः इन्दुजो बुधः प्रभुत्वं स्वामित्वम् ।
अब्जश्चंद्रमाः बाल्ये बालत्वे प्रियवियुतिं भर्तृवियोगं,
शनिः स्तनांभः शून्यत्वं स्तनयोरंभः स्तनाम्भः स्तन्य-
दुग्धं तस्य शून्यत्वम् अभावं सृजति कासां सुवासिनी
नां प्रौढांगनानां 'चिरंटी तु सुवासिनी' इत्यमरः ॥ ४ ॥

सत्पुत्रामसुरसुरेज्यसोमपुत्राः पुत्रारिं रविर-
सुतप्रजां द्विजैद्रः ॥ शोकार्तामवनिमुतः सुत-
स्थ ऐनिः संताने सततरुजं सृजेत्कुमारीम् ५

अथ पंचमस्य । प्रहर्षिणी । असुराश्च सुराश्च असुर-
सुराः तेषामिज्यौ शुकगुरु सोमपुत्रो बुधः एतेषु तत्स्थाः
पंचमभावस्थिताः कुमारीं सत्पुत्रां सृजेयुः कुर्युः, रविः
पुत्रारिं सृजेत् पुत्राणामरिः पुत्रघातिनी, द्विजैद्रश्चंद्रः अ-
सुतप्रजां सुतेभ्योन्या असुता सा प्रजा यस्याः सा तथा
कन्याप्रसूः, अवनिमुतो भौमः शोकार्ता शोकेन आतं

पीडिताम्, ऐनिः इनस्यापत्यमौनिः शानिः संताने संतति-
विषये सततं नित्यं रुक् रोगो यस्याः सा तथा तां सृजेत्
विधुर्निधनमिंदुजः परभयं जयं भानुमान्कु-
जः कुशलमर्कभूर्विगतवैरतां वैरिगः॥ रिपु-
त्वमुशना समं सहचरेण चारुभ्रुवां व्यनक्ति
वचसां पतिः पतिमजातशत्रुश्रुतिम् ॥ ६ ॥

अथ षष्ठस्य । पृथ्वीवृत्तम् । वैरिगः षष्ठभावगः विधुः
चारुभ्रुवां चारवो भ्रुवो यासां ताः तासां स्त्रीणां निधनं
व्यनक्ति प्रकटयति ददातीत्यर्थः । इंदुजो बुधः परभयं
शत्रुभयं, भानुमान् भानवो रश्मयः संत्यस्यासौ तथा
सूर्यः जयं, कुजो भौमः कुशलं क्षेम, अर्काद्भवतीत्यर्कभूः
शानिर्विगतवैरतां विगतं वैरं यस्याः सा विगतवैरा तस्या
भावो विगतवैरता। प्राग्बत्पुंस्त्वम्। उशना शुक्रः सहचरेण
भर्त्रा समं सार्द्धं रिपुत्वं शत्रुत्वं सहचरंतीति सहचराः
वचसां पतिर्बृहस्पतिः भर्तारमजाशत्रुश्रुतिर्न्यनक्ति, शत्रूणां
श्रुतिः श्रवणम् अजाता शत्रुश्रुतिर्यस्यासौ तथा शत्रुरिति
श्रवणमपि नास्तीत्यर्थः ॥ ६ ॥

बुधो वंध्यामिंदुः परिचितसपत्नीपरिभवां म-
लद्गर्भा पंगुः परनररतां दानवगुरुः ॥ अवी-
रामस्तेको गुरुरमरसेवाव्यसनिनीं विवाहे
माहेयः स्त्रियमतिरजस्कां जनयति ॥ ७ ॥

अथ सप्तमस्याशिखरिणी॥विवाहे विवाहकाले अस्ते
सप्तमभावे स्थितो बुधः स्त्रियं वंध्यां जनयति, इंदुश्चंद्रः
परिचितसपत्नीपरिभवां सपत्न्याः संबंधी परिभवः परा-
भवः सपत्नीपरिभवः परिचितः परिवृद्धः सपत्नीपरिभवो
यस्याः सा तथा । पंगुः शानिः गलद्रुर्भा गलंतश्च्यवंत-
गर्भा यस्याः सा तथा । दानवगुरुः शुक्रः परनररतां परपुः
रूपगामिनीम्, अर्कः सूर्यः अवीरां नास्ति वीरो भर्ता
यस्याः सा तथा, गुरुः अमरसेवाव्यसनिनीम् अमरसे-
वायां व्यसनं विद्यते यस्याः सा तथा । माहेयो भौमः
अतिरजस्कां जनयति अतिशायितं रजो यस्याः सा तथा
प्रदरव्याधियुक्तामित्यर्थः ॥ ७ ॥

सितसितकिरणेज्या मृत्युवे मृत्युवेश्मन्यन-
वरतसुखायुःसंपदे सूर्यसौरी ॥ भवति पति-
शरीरद्रोहकृद्रौहिणेयो द्रुहिणगृहमुखीनां य-
क्ष्मणे क्षोणिजन्मा ॥ ८ ॥

अथाष्टमस्यामालिनी । मृत्युवेश्मनि अष्टमभावे सित-
सितकिरणेज्या द्रुहिणगृहमुखीनां स्त्रीणां मरणाय भवन्ति ।
सितः शुक्रः सितकिरणश्चंद्रः ईज्यो गुरुः द्रुहिणो ब्रह्मा
तस्य गृहं पद्म तद्वन्मुखं यासां तास्तथा । सूर्यसौरी रवि-
शनी अनवरतसुखायुःसंपदे भवतः सुखं च आयुश्च
संपच्च सुखायुःसंपत् द्वंद्वैकत्वं क्लीबत्वं च अनवरतमुखं-

डितं च तत्सुखायुःसंपत्तस्मै । रोहिण्या अपत्यं रोहिणेयो
 बुधः पतिशरीरद्रोहकृत् स्यात् पत्युः शरीरं तस्य द्रोहः
 अपघातः तं करोतीति तथा । क्षोणिजन्मा भौमः यक्षमणे
 व्याधये भवेत् ॥ ८ ॥

शशिसुतगुरुशुक्राः सांद्रसौभाग्यलीलां सर-
 लहसितकांतस्वांतकोलं कुमारीम् ॥ रविरवि-
 सुतवक्राः कैतवाक्रांतशीलां तपसि तुहिनर-
 श्मिः स्त्रीसवित्रीं करोति ॥ ९ ॥

अथ नवमस्यामालिनी । तपसि नवमभावे शशिसुतगु-
 रुशुक्राः कुमारीं सांद्रसौभाग्यलीलां सरलहसितां कांत-
 स्वांतकोलं कुर्वति । शशिसुतो बुधः गुरुशुक्रौ प्रसिद्धौ सांद्रं
 निविडं च तत्सौभाग्यं च तस्य लीला यस्याः सा तथा
 सरलम् ऋजु तच्च तद्भसितं च तथा कांतस्य भर्तुः स्वांतं
 मनः कांतस्वांतं सरलहसितेन कांतस्वांते केलिः क्रीडा
 यस्याः संबधेन सा तथा रविरविसुतवक्राः कैतवाक्रां
 तशीलां कुर्वति । रविः सूर्यः रविसुतः शनिः वक्रो भौमः
 कैतवं कपटं तेन आक्रांतं युक्तं शीलं यस्याः सा तथा ।
 तुहिनरश्मिश्चंद्रः स्त्रीसवित्रीं करोति सूते सा सवित्री
 स्त्रीणां सवित्री कन्याप्रसूः ॥ ९ ॥

शनिरनियमशौचां कन्यकामन्यकार्यैर्वि-
 धुरतिविधुरांगीं शाकिनीं व्योम्नि वक्रः ॥

रचयति रविरुग्रां कोविदः कर्मणज्ञामवि-
कृतसुकृतश्रीमालिनीमार्यशुक्रौ ॥ १० ॥

अथ दशमस्य । मालिनी । व्यभेन्नि दशमभावे शानिः
कन्यकामनियमशौचां रचयति करोति नियमेन रहितं
शौचं यस्याः सा तथा शुचित्वहीनामित्यर्थः । विधुश्चन्द्रः
अन्यकार्यैः परकर्माभिः अतिविधुरांगीं रचयति अति-
शायितं विधुराणि विकलानि अंगानि यस्याः सा तथा ।
वक्रो भौमः शाकिनी डाकिनी क्षुद्रदेवताविशेषः शाकि-
नीं शाकिनी मांसभक्षिकेत्यर्थः । रविः सूर्यः उग्राम-
शीलां, कोविदो बुधः कर्मणज्ञां कर्मणं क्षुद्रकर्मविशेषः
तज्जानातीति तथा । आर्यशुक्रौ गुरुशुक्रौ अविकृतसु-
कृतश्री मालिनीं रचयतः सुकृतं च श्रीश्च सुकृतश्रियौ
पुण्यलक्ष्म्यौ अविकृते पूर्णे च ते सुकृतश्रियौ च ताभ्यां
मालते शोभते सा तथा । अत्र मालिनीति छंदसोपि
नाम सूचितम् ॥ १० ॥

एकादशे दशशतांशुमुखाः सुखानि रत्ना-
वरद्रविणभागभरोन्मुखानि ॥ पाणिग्रहे द-
दति दीर्घदृशां ग्रहेन्द्राः सर्वेऽपि सर्वभवनेष्व-
बला न किञ्चित् ॥ ११ ॥

अथ ११स्य वसंततिलका । दीर्घा दृग्-लोचनं यासां ता-
स्तासां स्त्रीणां पाणिग्रहे एकादशे स्थाने दशशतांशुमुखाः

दशतानि अंशवः किरणा यस्यासौ तथा समुखमादि-
 येषां ते सूर्यादयो ग्रहेंद्राः रत्नांबरद्रविणभोगभरोन्मुखानि
 सुखानि ददतिरत्नानि च अंबराणि च द्रविणं च तेषां भोगः
 तस्य भरो भारः तस्मादुन्मुखानि उदितानि। अथ श्लोका-
 वशेषे सति अत्रैव ग्रहाणां भावफलेषु बलप्राशस्त्यमाह—
 सर्वेपीति। सर्वेपि ग्रहाः अबलाः स्थानादिबलहीनाः संतः
 सर्वभवनेषु लग्नादिसर्वभावेष्वापि किञ्चिच्छुभं न दद्युः
 अर्थादेतत्फलमुक्तं तत्सबलानामेवेति ॥ ११ ॥

व्यये शुभाः सद्ध्ययकर्षितां शनिः सुरारु-
 चिं रचयति दुर्विधां विधुः ॥ अदक्षिणाव-
 यवरुजं कुजो रविर्विरूपयत्यतिरुचिरामपि
 स्त्रियम् ॥ १२ ॥

अथ व्ययस्य । रुचिरावृत्तम् । व्यये द्वादशे स्थिताः
 शुभाः बुधगुरुशुक्राः स्त्रियं सद्ध्ययकर्षितां रचयन्ति
 कुर्वन्ति संश्वासौ व्ययश्च तेन कर्षिता कृशत्वं प्राप्ता तां,
 शनिः सुरारुचिं सुरायां रुचिर्यस्याः सा तथा, विधु-
 श्चंद्रः दुर्विधां विधानं विधा दुर्विधां दुष्टकर्माणं, कुजो
 भौमः अदिक्षिणावयवरुजमदक्षिणश्चासाववयवश्च तस्य
 रुग्रोगो यस्याः सा तथा वामांगव्याधितारविरतरुचिति
 रामतिसुन्दरीमपि स्त्रियं विरूपयति विरूपां करोति ।
 रुचिरेति च्छंदसोपि नाम ॥ १२ ॥

इति मुनिजनमतमतनुवितर्कप्रतिगृहचरख-
चरोद्यदुदकम् ॥ परिविगणय्य विशेषमशे-
षं फलमिदमूह्यमनुज्झितरेखम् ॥ १३ ॥
इति विवाहवृंदावने ग्रहभावकुंडलिका-
ध्यायो द्वादशः ॥ १२ ॥

अथैषां भावफलादीनां प्राशस्त्यमाह—इत्यनंतरोक्त-
मिदं लग्नादिभावास्थितग्रहाणां फलमशेषं समस्तमनु-
ज्झितरेखं भवेत् । न उज्झिता अनुज्झिता रेखा येन
तत्तथा । अत्यक्तमर्यादं यथावद्भवतीत्यर्थः । कथंभूतं
मुनिजनमतं मुनिजनानां संमतम्, अतनुः पृथुः वितर्को
यस्य तत्तथा यद्यप्युत्तानार्थमेव दृश्यते तथा ग्रहबलादि-
विचारवशाद्बहुवितर्कमित्यर्थः । पुनः कथंभूतं प्रतिगृहेति ।
गृहं गृहं प्रति प्रतिगृहं प्रतिगृहं चरन्ति ते प्रतिगृह-
चराः ते च तेखचराश्च तेभ्य उदेति उद्भवतीति प्रतिगृ-
हचरखचरोद्यन् स उदकः उत्तरकालीनं शुभाशुभं फलं
यस्मिन् तत्तथा । किं कृत्वा अशेषं परिविगणय्य प्रागुक्तं
समस्तं विशेषं बलाबलरूपं विचार्येत्यर्थः ॥ १३ ॥

इति श्रीसकलागमाचार्यवर्यश्रीकेशवसांवत्सरात्मज-
गणेशविरचितायां विवाहवृंदावनटीकायां विवाहदीपि-
कायां ग्रहभावकुंडलिकाध्यायो द्वादशः ॥ १२ ॥

अथ ग्रहयोगादिवलावलाध्यायः ॥

षट्त्रयायेष्वशुभाः शुभाय निधनं द्यूनांत्य-
वर्जं परे त्रयायार्थेषु शशी मृतौ शनिरवी
भंगाय तत्रापरे ॥ क्रूरद्यूनवृतान्विते शशि-
तनू अस्ते सितज्ञौ विधुर्लग्नौ सोमसिताधि-
पा द्विषि सितः सेंदुर्विनष्टौ शपः ॥ १ ॥

अथोक्तभावफलानां व्यवहारार्थमुपसंहारादिकं तथा-
न्यदपि शुभाशुभयोगादिकं बलादिकं च निरूपयन् ग्रह-
बलाध्यायमारभते । तत्रादौ भावफलोपसंहारादि शार्दूल-
लविक्रीडितम् । षट् षष्ठं त्रयस्तृतीयमाय एकादशमेष्वशु-
भाः पापग्रहाः शुभाय भवन्ति शेषेष्वशुभाय, निधनम-
ष्टमं द्यूनं सप्तममंत्यं द्वादशमेतानि वर्जयित्वान्येषु नवसु
स्थानेषु परे सौम्यग्रहा बुधगुरुशुक्राः शुभाय भवन्ति । शेषेषु
निधनद्यूनांत्येषु अशुभाय, शशी चंद्रः त्रयायार्थेषु तृतीयै-
कादशाद्वितीयेषु शुभाय भवेत् शेषेष्वशुभाय । तत्राष्टमे
सर्वेषां विशेषमाह-मृताविति । मृतौ अष्टमे शनिरवी शुभाय
भवतः न त्वशुभाय । अत्र रवेरुपलक्षणाद्वाहुरप्यष्टमे शुभः
तत्स्वरूपांतरं केतुश्च राहुफलस्य रवेरतिदेशोक्तेः तत्राष्टमे
स्थाने परेन्ये चंद्रभौमबुधगुरुशुक्रा भंगाय भवन्ति लग्न-
भंगकर्तार इत्यर्थः । अन्यानपि लग्नभंगानाह—क्रूरद्यूनेति ।
शशितनू क्रूरद्यूनवृतान्विते भंगाय भवतः द्यूनं वृतमावृतं

थयोस्ते द्यूनवृते च अन्विते च द्यूनवृतान्विते क्रूरेण द्यू-
नवृतान्विते ते तथा चंद्रस्य लग्नस्य वा सप्तमं क्रूरा-
क्रांतं भवेत् । यद्वा-चंद्रो लग्नं वा क्रूरान्वितं भवेत् तदा
लग्नभंगः स्यादित्यर्थः । अस्ते सप्तमे लग्नाचंद्राद्वा
सितज्ञौ शुक्रबुधौ भंगाय, लग्ने विधुश्चंद्रः भंगाय, द्विषि
षष्ठे सोमसिताधिपाः भंगाय स्युः सोमश्चंद्रः सितः शुक्रः
अधिपाः स्वामिनः लग्नांशद्रेष्काणानाम् अत्र षष्ठं लग्ना-
देव न तु चंद्रात् सोमग्रहणात्, सितः शुक्रः सैन्दुः सचंद्रः
भंगाय शुक्रयुक्तश्चंद्र इत्यर्थः । अंशपो नवांशाधीशो वि-
नष्टोस्तंगतो भंगाय स्यात् ॥ १ ॥

अतुर्यकायकेंद्रगः सुहृत्स्वसौम्यवर्गयुक् ॥

सुहृच्छुभेक्षितः शुभः शशी मयूखमांसलः २

अथ सप्तमदशमचंद्रस्य विशेषमाह । प्रमाणिका । तुर्य-
चतुर्थ कायो लग्नं ताभ्यामन्यानि अतुर्यकायानि तानि च
तानि केंद्राणि च तत्र गतः सप्तदशमग इत्यर्थः । शशी
शुभः स्यात् कथंभूतः सुहृदित्यादि सुहृच्च स्वश्च सौ-
म्यश्च तेषां वर्गः तेन युनक्तीति तथा सुहृद्वर्गगः स्ववर्गगः
सौम्यवर्गग इत्यर्थः सुहृच्च शुभश्च ताभ्यामीक्षितः सुहृ-
दृष्टः शुभदृष्टश्चेति बहुमांसमस्त्यस्यासौ मांसलः “सि-
ध्मादिभ्यश्च” इति मत्वर्थीयो लः । मयूखैः किरणैर्मांसलः
रश्मिभिः पुष्ट इत्यर्थः । सप्तमदशमोपि चंद्र एवंविधः शु-
भः स्यादिति भावः । अत्रापि ‘अकायकोणकेंद्रेति’ पाठः ।

तत्र अकायकोणकेंद्राणि चतुर्थसप्तमदशमनवमपंचमा-
नि । तथा च शौनकः—“त्रिकोणसप्तमांबरव्ययोपगो वि-
लग्नतः । हिमद्युतिः शुभर्क्षगः शुभेक्षितश्च शोभनः” इति ।
अयं व्ययस्थोपि गृहीतः स तु नारदेन महादोषेषु पठितो
अतोसौ ग्रंथकृता त्यक्तः ॥ २ ॥

शशितनयसिताभ्यां नंदभद्राबुभाभ्यां जय
इति तनुयाते जीव इत्येष जीवे । असुरसुर-
गुरुभ्यां स्थावरो ज्ञेज्यशुक्रैर्विजय इति वि-
शुक्रं तं च जीमूतमाहुः ॥ ३ ॥

अथ शुभयोगानाह । मालिनी । तनुयात इति प्रत्येकं
संबध्यते । शशितनयो बुधः सितः शुक्रस्ताभ्यामनुगता-
भ्यां क्रमेण नंदभद्रौ योगौ स्तः । बुधेन लग्नगतेन
नंदः शुकेण भद्र इति, उभाभ्यां बुधशुक्राभ्यां लग्नगताभ्यां
जय इति योगः, जीवे गुरौ तनुयाते जीव इति योगः, अ-
सुरसुराणां गुरु शुक्रगुरुताभ्यां तनुयाताभ्यां स्थावर इति
योगः, ज्ञेज्यशुक्रैर्बुधगुरुशुक्रैस्तनुयातैर्विजय इति योगः,
तमेवयोगं विशुक्रं शुक्रवर्जितं बुधगुरुभ्यां लग्नगताभ्या-
मित्यर्थः । जीमूतं नाम योगमाहुर्मुनयः ॥ ३ ॥

इति शुभफलयोगाः सप्त सप्तर्षिमुख्यैर्मुनि-
भिरभिहितास्ते जन्मयात्रास्वपि स्युः ॥ भज-
ति युवतिरेभिर्भूपसीमंतिनीत्वं ग्रहयुतिव-
लयोगादुत्तराधर्यमस्मिन् ॥ ४ ॥

अथैषां फलमाह । मालिनी । इति सप्त शुभफलयोगाः
 सप्तर्षिमुख्यैर्मुनीन्द्रैरभिहितास्ते योगाः जन्मयात्रास्वपि-
 स्युः न केवलं विवाहे किंतु जन्मकाले यात्राकाले च
 शुभफला इत्यर्थः । तार्त्तिकं शुभफलमित्याह । भजतीति ।
 एभिर्योगैर्युवातिः भूपसीमंतिनीत्वं भजति भूपस्य सीम-
 तिनी तस्या भावस्तथा 'नारी सीमंतिनी वधूः' इत्य-
 मरः । राजपत्नी भवतीत्यर्थः । अस्मिन् शुभफले ग्रहयुति-
 बलयोशादुत्तराधर्यं स्यात् ग्रहाणां युतियोगः तत्र
 बलयोगः सबलत्वं तस्मात् उत्तरं च अधरं च उत्तराधरे
 तयोर्भावः औत्तराधर्यं योगकर्तृग्रहाणां बलवशाच्छुभफ-
 लस्याधिक्यं न्यूनत्वं कल्पितमिति भावः ॥ ४ ॥

दिनकररुधिराभ्यां व्यालपातालवक्रौ क्षय
 इति रविपुत्रे सैहिकेये तमस्कम् ॥ तनुगृहयु-
 जि केतावंतकस्तेषु शोकव्यसनविधनता-
 मिस्तप्यते पंकजाक्षी ॥ ५ ॥

अथ शुभयोगानाह । मालिनी । तनोर्गृहं तनुगृहं तेन
 युनक्तीति तनुग्रहयुक् तस्मिन्लग्नगत इत्यर्थः । एतत्प्र-
 त्येकं संबध्यते । दिनकररुधिराभ्यां लग्नगताभ्यां क्रमेण
 व्यालपातालवक्रौ योगी स्तः, रविणा लग्नगतेन व्यालो-
 भौमेन पातालवक्त्र इति । रविपुत्रे शनौ लग्नगते क्षय इति
 योगः, सैहिकेये राहौ लग्नगते तमस्कमिति योगः, केतौ

लग्नगते अंतक इति योगः, एवं पंच । तेषु योगेषु पंक-
जाक्षी नारी शोकव्यसनविधनताभिः तप्यते । कर्मकर्तरि
रूपम् । विधनताभिरिति करणं, यद्वा—कर्मणि रूपं तदा
विधनताभिरिति कर्ता । एतत्प्रत्येकं फलम् ॥ ५ ॥

तनुतुहिनमरीच्योरंगनाखेटदृष्टौ चरगृहग-
तयोः स्यात्कांतयुग्मं कुमार्याः ॥ अविदिशि
बलिनश्चेद्यायिनो युग्म इन्दावशुभदशमु-
पेते कन्यका त्वन्यकाम्या ॥ ६ ॥

अथान्यदुष्टयोगद्वयमाह । मालिनी । तनुर्लग्नं तुहिन-
मरीचिश्चंद्रः तयोर्लग्नचंद्रयोः चरगृहगतयोः चरराशिस्थि-
तयोः । आधारे सप्तमी । अंगनाखेटः शुक्रः तस्य दृष्टौ
सत्यां चरराशिस्थौ लग्नचंद्रौ शुकेण दृष्टावित्यर्थः । चेद्या-
यिनो ग्रहा अविदिशि स्थिताः संतो बलिनः स्युः तदा कु-
मार्याः कांतयुग्मं भर्तृद्वयं स्यात् । एतदुक्तं भवति—जातके
प्राच्यादिषु जीवबुधौ इत्यादिना दिग्बलार्थं न्यासे लग्नं
प्राच्यां भवति चतुर्थमुदीच्यां सप्तमं प्रतीच्यां दशमं दक्षि-
ण इति, शिष्टान्यष्टौ तन्मध्यवर्तिनीषु चतसृषु विदिक्षु भ-
वंति कोणगता दिग्विदिगित्युच्यते तस्या अन्या अवि-
दिक् सा दिगेव प्राच्यादिका तस्यां स्थिताः यायिनो ग्रहाः
लग्ने चतुर्थे सप्तमे दशमे चेत्यर्थः । यातुं शीलं येषां ते
यायिनः, स्थातुं शीलं येषां ते स्थायिनस्त एव पौराः, उभ-

यविलक्षण आक्रंदः । ते वराहेणोक्ताः—“रविराक्रंदो मध्ये
पौरः पूर्वे परे स्थितो यायी । पौरा बुधगुरुरविजा नित्यं
शीतांशुराक्रंदः ॥ केतुकुजराहुशुक्रा यायिनः” इति । अयं
योगः शौनकेन स्पष्टमुक्तः “लग्नेंद्र चरराशौ केंद्रस्था या-
यिनो यदा बलिनः ॥ योषिद्वहसंदृष्ट्या पतिद्वयं गच्छते
नारी ॥” इति । अथ द्वितीयं योगमाह-युग्म इंदविनि । युग्मे
समराशौ स्थिते इंदौ चंद्रे अशुभदृशं पापदृष्टिमुपेते प्राप्ते
पापग्रहदृष्ट इत्यर्थः । तदा कन्यका अन्यकाम्या स्यात्
काम्यते इति काम्योऽन्यः काम्यो यस्याः सा तथा पर-
पुरुषकांक्षिणीत्यर्थः । तथा च शौनकः—“क्रूरग्रहसंदृष्टे
समर्क्षे शशिनि भजति पतिमन्यम् ॥ स्त्रीणामन्यत्र गते
सौम्यैर्दृष्टे शुभं भवति ।” इति ॥ ६ ॥

नरः प्रियो नीरजलोचनानां नरग्रहैरुत्क-
टकांतिवीर्यैः ॥ नारी नृणां चित्तहरा स्वभो-
गैर्नारीनभोगैर्बलशालिभिस्तु ॥ ७ ॥

अथ ग्रहविशेषेण फलवशात्फलांतराण्याह । उपजा-
तिका । नरग्रहैः पुरुषग्रहैः उत्कटकांतिवीर्यैः कांतिश्च
वीर्यं च उत्कटे कांतिवीर्ये येषां ते तथा अतिशयितप्र-
काशैरतिबलैरित्यर्थः । तदा नीरजलोचनानां स्त्रीणां न-
रो भर्ता प्रियः स्यात् । नारीनभोगैः स्त्रीग्रहैर्बलशा-
लिभिः बलेन शालंते शोभंते बलशालिनः तदा नारी

नृणां चित्तहरा प्रिया स्यात् । कैः स्वभोगैः निजभोगकौ-
शलैः पुरुषस्य नारी प्रिया स्यादित्यथः । “बुधसूर्यसुतौ
नपुंसकाख्यौ शशिशुक्रौ युवती नराश्च शेषाः” इति ।
स्त्रीग्रहद्वित्वे सति नारीनभोगैरिति बहुत्वं कथमुपप-
द्यते । उच्यते—शौनकीयेऽपि योषिद्वहैरिति बहुत्वमस्ति
अतोऽस्य पूज्यार्थत्वादित्यादिर्गतिश्चित्या ॥ ७ ॥

पतिरस्तपतिर्विरोचनः श्वशुरस्तत्प्रमदा म-
दग्रहः ॥ अबला बलिनो दिशंत्यमी सुदृ-
शां तेष्वशुभं शुभं क्रमात् ॥ ८ ॥

किंच । वैतालीयम् । सुष्टु दृग्यासां ताः सुदृशः तासां
स्त्रीणां पतिः अस्तपतिः सप्तमाधीशः स्यात्, विरोचनः
सूर्यः श्वशुरः, मदग्रहः शुक्रस्तस्य श्वशुरस्य प्रमदा स्त्री
श्वशूरित्यर्थः । अमी पत्यादयः स्वचराः अबला निर्बला
बालिनः सबलाः क्रमात्सुदृशां स्त्रीणां तेषु पत्यादिष्वशुभं
शुभं दिशन्ति ददति ॥ ८ ॥

शशिसूर्यसुतावनीसुतैररिनीचास्तगतैः क-
रग्रहे ॥ अपि तन्वाधिपेन तप्यते निरपत्या
नियतं नितंबिनी ॥ ९ ॥

किंच । वैतालीयम् । करग्रहे पाणिग्रहे पाणिग्रहसमये
शशिसूर्यसुतावनीसुतैः चंद्रशानिभौमैः यथा तथावास्थितै-
ररिनीचास्तगैः तैः अरिः शत्रुगृहं नीचगृहमस्तमस्तमयः

तत्र गतैः । अपिः समुच्चये । तन्वाधिपेनापि अरिनी-
चास्तगतेन एवं योगे नितंबिनी स्त्री निरपत्या अपत्यर-
हिता सती नियतं निश्चितं तप्यते तापं प्राप्नोति । अत्र
सप्तमभवने निर्बले सतीति प्रक्षेप्तव्यम् । तथा च शौनकः-
“लग्नपतौ रिपुभवने नीचे वा रविसुतरजनीकरैः । बल-
रहिते च द्यूने स्त्रीणां न भवंत्यपत्यानि ” इति ॥ ९ ॥

कवेस्तृतीयस्य शुभाय रेखा लग्नं नभःस्थो
न भनक्ति भौमः ॥ तद्वद्व्यये सौरिरपीति
रीतिर्जनेषु जागर्तितरां कुतस्त्या ॥ १० ॥

अथ शास्त्रविरुद्धं किञ्चिच्छ्लोकेस्ति तदुपहसति । उपजा-
तिका । तृतीयस्य कवेः शुक्रस्य रेखा शुभाय भवेत्, लग्न-
स्य ग्रहबलावलोकने गणनार्थं प्रतिग्रहमेकैका रेखा क्रि-
यत इति ज्योतिर्विदां संप्रदायः । तत्र तृतीयः शुक्रः शुभः
इति कृत्वा रेखा क्रियत इत्येका रीतिः । नभःस्थो दश-
मस्थो भौमः लग्नं न भनक्ति लग्नभंगकर्ता न भवेदित्यन्या
रीतिः । तद्वद्व्यये द्वादशे सौरिः शनिरपि लग्नं न भनक्तीति
तृतीया रीतिः, इयं रीतिः पद्धतिर्जनेषु कुतस्त्या जाग-
र्तितराम् इयं रीतिः सर्वथा निर्मूला लोकेषु कस्माद्धेतो-
र्जाता अति प्रसिद्धास्तीति अस्या न कुत्रापि मूलं दृश्यत
इत्यर्थः । कुतो जाता कुतस्त्या अतिशयिता जागर्तीति
जागर्तितराम् आख्यातास्तरप् आम् च तदंतमव्ययम् १० ॥

उशना गुरुरिन्दुनन्दनःशशिजामित्रगपाप-
तापहृत् ॥ नवपंचमकेंद्रमित्रभप्रणयी पुष्ट-
दृशा विधुं स्पृशन् ॥ ११ ॥

अथ जामित्रदोषस्य भंगमाह । वैतालीयम् । उशना
शुक्रः गुरुर्बृहस्पतिः इन्दुनन्दनो बुधः अयमेकोपि शशि-
जामित्रगपापतापहृत्स्यात् शशिनः जामित्रं गच्छतीति
तथा स चासौ पापश्च तस्य तापः अशुभं तं हरतीति
तथा चंद्रात्सप्तमः पापस्य दोषहर्ता भवतीत्यर्थः । कथं-
भूतः—नवपंचमेति । नवपंचानां पूरणे नवपंचमे ते च केंद्रा-
णि च स० नवपंचमकेंद्रं तच्च तन्मित्रभं च तत्र प्रणयोस्त्य
स्यासौ तथा नवपंचमकेंद्रगतः सन्मित्रगृहस्थित इत्यर्थः ।
अपि च पुष्टदृशा विधुं स्पृशन् पूर्णदृष्ट्या चंद्रं पश्यन्नि-
त्यर्थः । अत्र केंद्रं सप्तमविरहितं ज्ञेयमशुभत्वात् । तथा
चोक्तम्—“ हरिजदिवसचंद्रात्सप्तमऋदोषक्षयकृदमरपू-
ज्यः सोमपुत्रः सितो वा । उदयहिबुकधर्मव्योमपुत्रालय-
स्थो यदि च सकलदृष्ट्यालोकयेच्छीतरश्मिम् ” इति ११

हिमरश्मिनवांशकात्खलो यदि खेटः शर-
सायकांशके ॥ अयमन्यगुणैर्न हन्यते नि-
बिडैरप्युपसर्गडंबरः ॥ १२ ॥

तत्र परिपूर्णजामित्रदोषे अभंगत्वमाह । वैतालीयम् ।
यदि हिमरश्मिनवांशकाच्चंद्रस्थितनवांशकात्खलखेटः

शरसायकांशके पंचपंचाशत्तमे नवमांशे भवति । अय-
मुपसर्गडंबरः दोषाडंबरः निबिडैः परिपूर्णैरप्यन्यगुणैर्न
हन्यते चेज्जामित्रगोपि पापः यदि पञ्चांतरे भवति तदायं
दोषः केनापि गुणेन न भज्यत इत्यर्थः ॥ १२ ॥

मोघाः शिखिदग्धबीजवद्योगाः केपि शरीर-
धारिणः॥ दृढगूढफलोदयाः परे पर्णाकीर्ण-
हुताशराशिवत् ॥ १३ ॥

अथैषां योगानां विचारगम्यत्वमस्तीत्याह । वैताली-
यम् । केपि केचन शरीरधारिणः संपूर्णाः प्रत्यक्षा इव दृश्य-
माना योगा निष्फलाः स्युः, किंवत् शिखिदग्धबीजवत्
शिखिना वह्निना दग्धं यद्बीजं तद्वत् यथा वह्निदग्धं
बीजं प्रत्यक्षं संपूर्णावयवमपि कार्यक्षमं न भवेत्तद्वत्के-
चिद्योगाः संपूर्णाः प्रत्यक्षं दृश्यमाना अपि मोघाः
स्युरित्यर्थः । निर्बलानां ग्रहाणां संपूर्णा अपि योगाः
मोघाः स्युरिति भावः । परे केचन योगाः दृढगूढ-
फलोदयाः दृढगूढः आच्छन्नः फलोदयः फलप्राप्तियेषां
तथा । किंवत् पर्णाकीर्णहुताशराशिवत् पर्णैः आकीर्णः
आच्छन्नश्चासौ हुताशराशिश्च तद्वत् यथा पर्णाच्छन्नो
वह्निः प्रत्यक्षमदृश्यमानोपि स्वकार्यक्षमोस्त्येव तथा
केचन योगा अपीत्यर्थः । सबलानां ग्रहाणाम् अल्पयो-
गोपि परिपूर्णफलः स्यादित्यर्थः ॥ १३ ॥

इति यः प्रतिकूलकारकग्रहभावांशनिवेश-
दृष्टिभिः ॥ तन्वादिफलेषु दत्तदृक्स प्राप्नो-
त्यवतंसतां सताम् ॥ १४ ॥

इति श्रीविवाहवृन्दावने ग्रहयोगादिबलाबला-
ध्यायस्त्रयोदशः ॥ १३ ॥

एवंविधविचारवतो दैवज्ञस्य जगत्सु पूज्यत्वं स्यादि-
त्याह । वैतालीयम् । स दैववित् सतां विदुषामवतंसतां
प्राप्नोति अवतसः कर्णपूरः तस्य भावस्तथा सतामपि वं-
द्यः किमुतान्येषामिति । सः कः य इत्युक्तप्रकारेण प्रतिकू-
लकारकग्रहभावांशनिवेशदृष्टिभिः कृत्वा तन्वादिफलेषु
दत्तदृक् प्रतिकूलं दुष्टं कुर्वति ते प्रतिकूलकारकाः ते च
ते ग्रहाश्च भावाश्च अंशाश्च प्रतिकूलकारकग्रहभावांशा-
स्तेषां निवेशः स्थानं तत्र दृष्टयः ताभिः तन्वादीनां फ-
लानि तेषु दत्ता दृग्येन स तथा॥ दुष्टकारका ये ग्रहा भा-
वाश्च अंशाश्च तेषां यानि स्थानानि तेषु दृष्टिं दत्त्वा त-
न्वादिफलेषु च दृष्टिं दत्त्वा तद्बलाबलं विचार्य यदादिष्टं
तदन्यथा न स्यादिति कृत्वा स दैववित् सतां वंद्यः
स्यादित्यर्थः ॥ १४ ॥

इति श्रीसकलागमाचार्यवर्यश्रीकेशवसांवत्सरात्मजग-
णेशविरचितायां विवाहवृन्दावनटीकायां विवाहदीपि-
कायां ग्रहयोगादिबलाबलाध्यायस्त्रयोदशः ॥ १३ ॥

अथ मिश्राध्यायः

उल्लिख्य सामुद्रिकलक्षणानि वरः कुमारीं
वृणुयान्निमित्तैः । एवं कुमारी वरमप्युदर्क-
न होक्धारं निरधारि धीरैः ॥ १ ॥

अथ स्त्रीपुंसयोः सामुद्रिकलक्षणपूर्वको मिश्राध्याय
आरभ्यते । तत्रादौ तत्कारणमाह । उपजातिका । वरः
कुमारीं वृणुयात् कैर्निमित्तैः यल्लिङ्गिबालकेत्यादिना
वक्ष्यमाणैः किं कृत्वा सामुद्रिकलक्षणानि उल्लिख्य
प्रकटीकृत्य समुद्रेण प्रणीतानि लक्षणानि सामुद्रिक-
लक्षणानि सामुद्रिकाणि, स्त्रीपुंसयोः शुभाशुभलक्षणानि ।
मुख्यप्रवर्तकः समुद्र एव । यथा व्याकरणस्य पा-
णिनिः, छंदसश्च पिङ्गलः अतस्तानि सामुद्रिकल-
क्षणानीत्युच्यन्ते । कुमार्याः सामुद्रिकलक्षणैः प्रश्नकाले
निमित्तादिभिश्च शुभं ज्ञात्वा तां वरयेदित्यर्थः । एवं वर-
मपि कुमारी वरयेत् वरस्यापि शुभं ज्ञात्वा तं वरं कुमा-
री वृणुयादित्यर्थः । एवं चेत्तर्हि प्रागुक्तेन फलसंदर्भेण
किमित्याशंकायामाह—उदर्क इति । हि यस्मात्कारणा-
दुदर्कः उत्तरकालीनं फलं धीरैर्गर्गादिभिरेकधा एकप्रका-
रमरं निश्चितं न निरधारि न निर्धारितं भाविफलमनेनैव
प्रकारेण ज्ञेयमिति न निश्चितमिति भावः ॥ १ ॥

स्वप्नो निमित्तं शकुनाः स्वकर्म शरीरमा-
 गंतुकमद्भुतानि ॥ दोषातिचारग्रहचारका-
 लकाम्यानि चैवं विविधः फलाध्वा ॥ २ ॥

तदेव प्रपञ्चमाह । इन्द्रवज्रा । एवं स्वप्नादिकः फला-
 ध्वा फलमार्गः विविधोनेकप्रकारोस्ति स्वप्नो निद्रावि-
 शेषजज्ञानम् । ननु 'स्यान्निद्रा शयनं स्वापः स्वप्नः संवेशः'
 इत्याभिधाने निद्रास्वप्नयोरभेदः । सत्यं-तथाप्यवांत-
 रविशेषाद्रेदोस्त्येव वनगहनवत् । तथाहि-जाग्रत्स्वप्न-
 सुषुप्तितुरीया इत्यवस्थाचतुष्टयं योगशास्त्रे प्रसिद्धं तत्र
 जागृतिः प्रसिद्धा मनसो निरिन्द्रियप्रदेशावस्थानं निद्रा
 सा द्विधा स्वप्नः सुषुप्तिरिति । यत्र दुष्टांतःकरणजं ज्ञान-
 मस्ति संः स्वप्न इत्युच्यते यत्र तु एतन्नास्ति सा सुषुप्तिः
 एतन्नित्यं सर्वजनानुभवसिद्धं तिसृभ्योविलक्षणा सा तु-
 रीया सा च योगिनामेव । स्वप्नावस्थायां तद्गतं ज्ञान-
 मपि स्वप्नशब्देनोपचर्यते । यथा श्रीमद्भागवते-'स्वप्नो
 निद्रानुगो यथा ।' इति । नैषधकाव्येपि-'न सा निशि
 स्वप्नगतं ददर्शतम्' इति । अतस्तल्लक्षणमाहुर्नैयायिकाः-
 'योगजधर्मानुगृहीतस्य मनसो निरिन्द्रियप्रदेशाव-
 स्थानं निद्रा, तत्र दुष्टांतःकरणजं ज्ञानं स्वप्नः' इति । एव-
 मत्र स्वप्नशब्देन निद्राविशेषजं ज्ञानमुच्यते तस्मात्फ-
 लादेशः अयमेको मार्गः । निमित्तानि क्षुतदुर्वचनादीनि

शकुनाः, पूर्णकुंभादयः, स्वकर्म निजप्राचीनकर्मविपाकः,
 शारीरं सामुद्रिकलक्षणादि, आगंतुकं भविष्यद्वस्तुकं
 जातकादि, अद्भुतानि उत्पाताः दिव्यभौमांतरिक्षाः, दोषा
 वातपित्तश्लेष्मादयः स्वाभाविकाः शरीरस्थाः तेषाम-
 भिचारः प्रचारः स्वरविधानादिग्रहचारा गोचरवक्रमा-
 र्गास्तोदयः कालः संवत्सरमासलग्नादिः काम्यं, कांक्षितम्
 ऐहिकं पुरुषचेष्टादि । तथा च शौनकः—“ तिथिकर-
 णर्क्षनिशाकरविलग्रपरिकल्पनामयं गर्गः । पाणिग्रह-
 णेषु फलं वदन्ति यवना वसिष्ठश्च ॥ ग्रहराशिगोचरभवं
 जातकविहितं च देवलः प्राह । शकुनिरुतज्ञाः शकुनै-
 र्निमित्तकुशला निमित्तैश्च ।। कर्मसमुत्थं चान्ये कुल-
 देशस्त्रीस्वभावमपरे तु ॥ इच्छन्त्यन्ये मुनयः कालविशे-
 षाद्विशेषफलम् ” इति । एवं स्वप्नादिः फलमार्गो नानावि-
 धोस्ति अतो वरवध्वोः सामुद्रिकलक्षणस्वस्थारिष्टादि-
 कमप्यस्माभिरप्युच्यत इति भावः । तथा चाहुः—“ जा-
 तकनिमित्तशुद्धां शुभलक्षणसंस्थितां कुलोद्भूताम् ।
 वरयेत्सुतसौख्यार्थी यवीयसीं कन्यकाम् ”—इति । यवी-
 यसीं न्यूनां वयसा प्रमाणतश्च ॥ २ ॥

प्राक्कर्मबीजं सलिलानलोर्वीसंस्कारवत्कर्म
 विधीयमानम् ॥ शोषाय पोषाय च तस्य
 तस्मात्सदा सदाचारवतां न हानिः ॥ ३ ॥

एवं फलमार्गेष्वनेकेषु सत्सु तत्समाधानमाह । उप-
जातिका । एतत्प्रागेव व्याख्यातप्रायम् । पूर्वजन्मनि यदु-
पार्जितं सदसत्कर्म तत्प्राक्कर्मैत्युच्यते तदेव दैवं, यदैहिकं
कर्म तत्प्रयत्नः पौरुषं चोच्यते, यत्प्राक्कर्म तस्य शो-
षाय क्षयाय पोषाय पुष्ट्यै च अधुना विधीयमानं क्रि-
यमाणं कर्म भवतीत्यन्वयः । किंवत् बीजं सलिलानलो-
र्वीसंस्कारवत् । सलिलं जलमनलोग्निः उर्वी भूमिः आ-
सां संस्कारः तद्वत् । यथा सद्बीजं सद्भिः सलिलादिसं-
स्कारैः संस्कृतं सदुदेति वर्धते च अन्यथा क्षीयते तद्वत्स-
त्प्राक्कर्म ऐहिकेन सत्प्रयत्नेन वर्द्धते अन्यथा क्षीयत
इति । तस्मात्कारणात्सदाचारवतां श्रुतिस्मृत्यादिषु यो
विहितः स सदाचारस्तद्वतां पुरुषाणां सदा कदाचिदपि
न हानिः स्यात् । अशुभमपि कर्मफलं सत्प्रयत्नेन नि-
वार्यत इत्यादिकं प्रपञ्चितं प्राक् । तस्मात्स्वप्रनिमित्तश-
कुनसामुद्रिकलक्षणादयोऽपि प्रयत्नलक्षणा अवश्यं वि-
लोकनीया इति सिद्धम् । एतदस्माभिः सप्रपञ्चं प्रथम-
मेव निरूपितम् ॥ ३ ॥

फलेद्यदि प्राक्तनमेव तर्त्तिकं कृष्याद्युपायेषु
परः प्रयत्नः ॥ श्रुतिः स्मृतिश्चापि नृणां नि-
षेधविध्यात्मके कर्मणि किं निषण्णा ॥ ४॥

अथ केचित्प्राक्कर्मैव फलतीति मन्यमानाःस्तन्मतं
निरस्यति । विपरीताख्यानकी । प्राक्तनं प्राग्भवं कर्म ।

यदि प्राक्तनं कर्मैव फलेन तु प्रयत्नस्तदा कृषिवाणि-
ज्यादिषूपायेषु आगमप्रकारेषु परः प्रयत्नः किं
कथमेतेषु कृष्यादिषु प्रयत्नः कर्तव्यः । यदवश्यं
भावि तद्भवत्येवेति कृत्वा सर्वजनेन कृष्यादिषु न प्रव-
र्तितव्यं स च प्रवर्तते अतः प्रत्यक्षविरुद्धं तदित्यर्थः ।
न केवलं प्रत्यक्षविरुद्धं किंच आगमविरुद्धमपीत्याह—
श्रुतिरिति । नृणां निषेधविध्यात्मके निषेधाविधिरूपे
कर्माणि श्रुतिः स्मृतिश्च किं निषण्णा कथं प्रवृत्ता
'आत्मानं सततं गोपाय' इत्यादिश्रुतीनाम् । “ न वृक्ष-
मारोहेन कूपमवेक्षेत न बाहुभ्यां नदीं तरेन संशयमभ्या-
पद्येत ” इत्याद्याश्वलायनादिकल्पानां “ श्रीकामः पु-
ष्टिकामो वा ग्रहयज्ञं समाचरेत् ” इत्यादियाज्ञवल्क्यादि-
स्मृतीनां चिकित्सादिशास्त्रस्य च वैयर्थ्यप्रसंगः स्या-
दित्यर्थः । एतदपि सप्रपञ्चं प्रथममेव निरूपितम् अतो
यदुक्तं तत्सम्यक् ॥ ४ ॥

छायां विधोर्न ध्रुवमृक्षमालामालोकयेद्यो न
च मातृचक्रम् ॥ खंडं पदं यस्य च कर्दमा-
दौ कफश्च्युतो मज्जति चांबुचुंबी ॥ ५ ॥

अथ प्रकृतम् । तत्र तावत्स्वस्थारिष्टान्याह—श्लोक-
सप्तकेन । उपजातिकाः । अमुं वरं न वृणीरन्नित्युत्तरेण
सर्वत्र संबंधः । अमुकं यः विधोः छायां कलंकं न आलो-

कयेन्न च ध्रुवं नक्षत्रमालां नक्षत्रमंडलं न च मातृचक्र-
मालोकयेन्मातृसंज्ञाः ताराविशेषास्ताराचक्रं मंडलं
यस्य च कर्दमादौ खंडं पदं भवति कर्दमधूलिप्रभृतिषु
क्षिप्तपदस्य प्रतिरूपं खंडं भवतीत्यर्थः । यस्य कफः
श्लेष्मा उदके च्युतः निष्ठच्युतः सन् अंबुचुंबी मज्जति
अंबु चुंबतीत्यंबुचुंबी जलमाकृष्य बुडतीत्यर्थः ॥ ५ ॥

उरः पुरः शुष्यति यस्य चार्द्रं न मांति ति-
स्रोगुलयश्च वक्त्रे ॥ स्नातस्य मूर्धन्यपि
धूमवल्ली निलीयते रिक्तमुखः खगो वा ॥ ६ ॥

यस्य च उरः उरस्थलम् उदकचंदनादिना आर्द्रं क्लिन्नं
सदन्यस्माच्छरीरस्थानात्पुरः पूर्वमेव शुष्यति शुष्कं
भवति । यस्य च वक्त्रे मुखे कनिष्ठांगुष्ठौ विहाय मध्य
मास्तिस्रोगुलयः परस्परकुक्षिसंलग्नाः न मांति न समा-
विशंति । अपि वार्थं । यस्य वा उदकेन स्नातस्य मूर्धनि
मस्तके धूमवल्ली धूमशिखा स्यात् । यस्य वा मूर्धनि
फलधान्यादिना रिक्तमुखः रिक्तचंचुः खगः पक्षी निली-
यते निर्विशति ॥ ६ ॥

नाकीर्णकर्णः शृणुयच्च घोषं नो वा सु-
भुक्तोपि धृतिं न धत्ते ॥ निःश्रीरकस्मात्सुत-
रां च सुश्रीः कृशः स्थवीर्यानपि योप्यक-
स्मात् ॥ ७ ॥

यश्चाङ्गुल्यादिना आकीर्णकर्णः आवृतकर्णरन्ध्रः सन्
अंतर्वर्तिनं स्वाभाविकं घोषं न शृणुयात् । यो वा सुभु-
क्तोपि अतिशयितं भुक्तोपि धृतिं तृप्तिं न धत्ते । अतिभुक्तः
सन्नपि तृप्तिं न प्राप्नोतीत्यर्थः । यश्च सुश्रीरप्यकस्मात्सु-
तरां निःश्रीर्भवति, यश्च निःश्रीरप्यकस्मात्सुतरां सुश्रीर्भव-
ति । अपिः वार्थे । निर्गता श्रीः शोभा यस्यासौ तथा ।
यश्च कृशोप्यकस्मात्स्थवीयान् भवति यश्च स्थवीयान-
कस्मात्कृशो भवति । अतिशयितः स्थूलः स्थवीयान् ।
“स्थूलदूर-” इति स्थवादेशः ॥ ७ ॥

अतीव तुच्छं बहु चात्त्यहेतोरतीतसात्म्यः
सदसत्प्रवृत्तौ ॥ अप्यङ्गुलिक्रांतविलोचनांतौ
न मेचकं चांद्रकमीक्षते यः ॥ ८ ॥

यश्च अहेतोः ज्वरादिहेतुं विना अतिशयितम् अतीव-
तुच्छमल्पम् अत्ति भक्षयति । मस्मकादिव्याध्यादिहेतुं
विना अतीव बहु भूरि अत्ति, यश्च सदसत्प्रवृत्तौ विषये
अतीतसात्म्यः सच्च असच्च सदसती तत्र प्रवृत्तिः तस्याम-
तीतं त्यक्तं सात्म्यं स्वाभाविकं येन स तथा । यः स्वभावे-
न सदसत्प्रवृत्तिः सन् स चेदसत्सत्प्रवृत्तिरित्यर्थः । अपिः
वार्थे । यो वा अङ्गुलिक्रांतविलोचनांतः सन् चांद्रकं मेचकं
नेक्षते । अङ्गुलीभिः क्रांतौ आक्रमितौ लोचनांतौ नेत्रप्रां-
तौ येन स तथा । मेचकवर्णो मयूरपत्रनिभः चांद्रकं स्व-
द्योता इव द्योतमानं स्वानुभवासिद्धम् ॥ ८ ॥

मध्येललाटं मणिबंधधारी न चा लिपकां प-
श्यति यः कलावीम् ॥ अहेतुकं यः शवगंधि-
गात्रः सर्वत्र सीमंतितमूर्धजो वा ॥ ९ ॥

मध्ये ललाटस्येति मध्येललाटं 'पारेमध्ये षष्ठ्या
वा' इत्यव्ययीभावः मणिबंधं धारयतीति मणिबंध-
धारी यो ललाटमध्ये मणिबंधं धृत्वा अलिपकां कृशां
कलावीं न पश्यति । तलहस्ताधस्तात्संधिर्मणिबंधः तद-
धो हस्तभागः । कलावीं स्त्रीणां करभूषणस्थानम् । यश्च
अहेतुकम् अकारणं शवगंधिगात्रः शवस्य गंध इव गं-
धो यस्य तत् शवगंधि तत् गात्रं यस्यासौ तथा । यो
वा सर्वत्र सीमंतितमूर्धजः सीमंताः संजाता येषां ते
सीमंतिताः ते मूर्धजाः केशा यस्यासौ तथा । सीमंतः
स्त्रीणां ललाटादूर्ध्वं केशवेशविशेषः प्रसिद्धः ॥ ९ ॥

अपि क्षरद्रोमनखः शरीरात्सद्यः स्रवद्राम-
विलोचनो वा ॥ निरीक्षते सत्त्वममानुषं वा
विस्त्रस्तनासानयनश्रुतिर्वा ॥ १० ॥

अपि वार्थे । यो वा शरीरात्क्षरद्रोमनखः क्षरन्ति
गलन्ति रोमाणि नखानि च यस्यासौ तथा । यो वा
अमानुषं मानुषादन्यं सत्त्वं प्राणिनं पिशाचादिकं नि-
रीक्षते । यो वा विस्त्रस्तनासानयनश्रुतिः नासा नासि-
का नयने नेत्रे श्रुती कर्णौ विस्त्रस्ताः शिथिलीभूताः
नासानयनश्रुतयो यस्यासौ तथा ॥ १० ॥

आक्षिप्यमाणो दिशि दक्षिणस्यां जागर्ति
यानेऽधिकृतः खरादौ ॥ नेदिष्ठदिष्टांतममुं
कुमार्यानाऽऽर्याः प्रदानाय वरं वृणीरन् ॥ ११ ॥

इंद्रवज्रा । यो वा स्वप्नमध्ये खरादौ गर्दभादौ यानेऽ-
धिकृतः आरूढो दक्षिणस्यां दिशि आक्षिप्यमाणः प्रेर्य-
माणः सन् जागर्ति प्रबुध्यति । अमुं वरम् आर्या ज्ञातारः कु-
मार्याः प्रदानाय न वृणीरन् । तत्र कारणमाह-नेदिष्ठे-
ति । नेदिष्ठः अतिसमीपगः दिष्टांतः प्रलयो यस्यासौ
तथा । अतिशयेन अतिकः नेदिष्ठः 'अतिकबाढयोर्ने-
दसाधौ' इति नेदादेशः । 'दिष्टांतः प्रलयोऽत्ययः' इत्य-
मरः । आसन्नमृत्युं वरं न वरयेयुरित्यर्थः । अर्थादेवंविधां
कुमार्यां वरोपि ॥ ११ ॥

छायां निरीक्ष्य क्षणमंतरिक्षं पश्यन्न यो नि-
श्चलनेत्रपातः ॥ शुभ्राभ्रसच्छायमिह स्व-
कायं पश्येत्स नश्येद्विकृतौ विकारः ॥ १२ ॥

अथ छायालक्षणेनारिष्टज्ञानमाह । इंद्रवज्रा । निश्चलः
स्थिरः नेत्रयोः पातो यस्यासौ तथा । यः निश्चलदृष्टिः
सन् क्षणं स्वस्य छायां निरीक्ष्य ततः क्षणमंतरिक्षं
पश्यन् तथा स्वकायं स्वदेहं शुभ्राभ्रसच्छायं न पश्येत्
स नश्येन्नाशं प्राप्नोति । शुभ्राभ्राणि शुभ्रमेघाः तैः समाना
छाया यस्यासौ तथा । समानस्य सादेशः । इहास्मिन्स्व-

काये विकृतौ दृष्टायां सत्यां विकारः स्यात् यस्यांगस्य
विकारो दृष्टस्तदंगस्य तथा विकारः स्यादित्यर्थः ॥ १२ ॥

प्रदक्षिणावर्तशरीररोमा वृषस्वनः फेनिलमू-
त्रपातः ॥ नात्यल्पपार्ष्णिर्मनसा गभीरो
धीरोन्नतारंभरुचिर्यशस्वी ॥ १३ ॥

अथ श्लोकत्रयेण पुरुषलक्षणमाह । उपजातिका ।
प्रदक्षिणं सव्यमावर्तः परिभ्रमो येषां तानि प्रदक्षिणावर्ता-
नि तानि शरीररोमाणि यस्यासौ तथा । वृषस्य
स्वन इव स्वनः शब्दो यस्यासौ तथा । फेनोस्ति य-
स्मिन्नसौ फेनिलः 'फेनादिलब्ध' इति इलच् । फेनिलः
मूत्रस्य पातो यस्यासौ तथा । न अत्यल्पः अतिलघुः
पार्ष्णिर्यस्यासौ तथा । नाकादित्वात् नलोपः । पार्ष्णिर्गु-
ल्फयोरधःप्रदेशः 'तद्वन्थी घुटिके गुल्फौ पुमान् पार्ष्णि-
रधस्तयोः' इत्यभिधानात् । मनसा गभीरो गंभीरः । प्रकृ-
त्यादिभ्यश्चेति तृतीया । 'निम्नं गभीरं गंभीरम्' इत्यमरः ।
वीरा निःसंदेहा वर्धमाना आरंभेषु कार्यारंभेषु रुचिः प्री-
तिर्यस्यासौ तथा । प्रशस्तं यशोस्त्यस्यासौ यशस्वी ।
प्रशंसायां मत्वर्थे विनिः ॥ १३ ॥

स्निग्धेक्षणत्वङ्मनस्वदंतकेशा युवा सुवासाः
परिवीतचेष्टः ■ न स्त्रीमुखो निप्रभशांतमू-
र्तिर्न चातिकृष्णेक्षणतारकोऽर्वा ॥ १४ ॥

आख्यानकी । ईक्षणे नेत्रे, स्निग्धाः सस्नेहाः ईक्षणे च
त्वक्च नखाश्च दंताश्च केशाश्च यस्यासौ तथा । युवा मध्य-
मवयस्कः । सुष्ठु वासो यस्यासौ तथा । अमालिनवस्त्रः ।
परिवीता । अतिसंवृता चेष्टा शरीरैरंगितं यस्यासौ तथा ।
'व्येज् संवरणे' । स्त्रियाः मुखमिव मुखं यस्यासौ स्त्रीमुखः
न च स्त्रीमुखः । नितरां प्रभा यस्याः सा निप्रभा शांता
मूर्तिर्यस्यासौ तथा । अतिकृष्णेक्षणतारको वा न भवति
ईक्षणयोर्नेत्रयोस्तारके ईक्षणतारके अतिकृष्णे ईक्षण-
तारके यस्यासौ तथा ॥ १४ ॥

औचित्यचारी शुचिरिंगितज्ञो विशालहस्ता-
ननबाहुवक्षाः ॥ सर्वोपि सत्त्वाकृतिमान्कु-
लीनः कन्याप्रदानाय वरो न रोगी ॥ १५ ॥

उपजातिका । उचितं योग्यं तस्य भावः औचित्यं
तच्चरति आचरतीति तथा । शुचिरानिन्दितः चारुः । इंगितं
परस्परचेष्टितं तज्जानातीति तथा । विशालं विस्तीर्णं
हस्तौ च आननं च बाहू च वक्षश्च यस्यासौ तथा ।
मुख्यलक्षणान्याह—सर्वोपीति । सर्वोपि एभिः सर्वलक्षणैः
संपन्नोपि नरः सत्त्वाकृतिमान् कुलीनः न रोगी स्यात् ।
सत्त्वस्य आकृतिर्यस्यासौ तथा । सात्त्विकप्रकृतिरित्यर्थः ।
कुलीनो विख्यातसत्कुलप्रसूतः । न रोगी अव्याधितः ।
किमर्थं कन्याप्रदानाय । एवं वरलक्षणान्युक्त्वा वधू-
लक्षणान्याह ॥ १५ ॥

श्मश्रुश्यामोन्नतोष्ठी पृथुकरचरणा ह्रस्वरू-
 क्षाग्रकेशा निःशौचा रोमशांगी कृशकुटि-
 लचलत्क्रूरसच्छद्मदृष्टिः॥ वामावर्ता विशा-
 लोन्नतविकटनटद्भ्रूललाटास्पृशन्ती नोर्वीमं-
 त्यांगुलिभ्यामनियतबहुभुग्गेहिनी देहिनी
 रुक् ॥ १६ ॥

संग्रहा । श्मश्रुभिः श्यामौ श्मश्रुश्यामौ तौ उन्नतौ
 उच्चौ ओष्ठौ यस्याः सा तथा । “नासिकौदर-” इति डीप् ।
 कंरौ च चरणौ च करचरणं पृथु करचरणं यस्याः सा त-
 था । पृथुहस्ता पृथुचरणा चेति । रुक्षाणि अस्निग्धानि
 अग्राणि येषां ते रुक्षाग्राः ह्रस्वा रुक्षाग्राः केशा यस्याः
 सा तथा । अत्र डीषो विकल्पान्न डीप् । शुचेर्भावः शौचं
 निःशौचा शौचहीना । रोमाणि संति येषु तानि रोमशानि ।
 लोमादित्वान्मतुवर्थे शः । रोमशानि अंगानि यस्याः सा
 तथा ‘अंगगात्र’ इति डीप् । कृशा लघुः कुटिला वक्रा चलन्ती
 अस्थिरा क्रूरा उग्रा सच्छद्मा सकपटा । ‘उपाधिश्छद्मकै-
 तवे’ इत्यमरः । एवंविधा दृष्टिर्यस्याः सा कृशकुटिलच-
 लत्क्रूरसच्छद्मदृष्टिः । वामा अप्रदक्षिणा आवर्ता रोमा-
 वर्ता यस्याः सा तथा । विकटं विसदृशं नटतः नृत्यतः
 ते विकटनटन्ती ते भुवौ ललाटं च तद्विकटनटद्भ्रूललाटं
 विशालं विस्तीर्णम् उन्नतमुच्चं विकटनटद्भ्रूललाटं य-

स्याः सा तथा । बह्वृत्त्वान्न डीप् । विशालोन्नतललाटा
विकटनटद्रुश्चेत्यर्थः । अंत्यांगुलिभ्यां । कनिष्ठिकोपकनि-
ष्ठिकाभ्याम् उर्वी भूमिं न स्पृशंति अर्थाच्चरणस्य यस्या-
श्चरणगतकनिष्ठिकोपकनिष्ठिके भूमिं न स्पृशत इत्यर्थः ।
अनियतमसंख्यातं बहु भूरि भुंक्ते अनियतबहुभुक्
एवंविधा गेहिनी गृहिणी देहिनी रुक् स्यात् देहोस्ति
यस्याः सा देहिनी 'स्त्री रुद्रुजा चोपतापः' इत्यमरः । सा
स्त्री मूर्तिमान् रोग एवेत्यर्थः ॥ १६ ॥

या स्फिग्ललाटोदरलंबिनी सा स्यात्कांत-
कांतानुजतातहंत्री ॥ नितंबिनी स्वल्पनि-
तंबगुह्या दुह्यात्पतिं दीर्घगला कुलघ्नी ॥ १७ ॥

उपजातिः । या नितंबिनी स्त्री स्फिग्ललाटोदरलं-
बिनी सा क्रमेण कांतकांतानुजतातहंत्री स्यात् । स्त्रियां
स्फिचौ कटिप्रोथौ' इत्यमरः । स्फिचौ च ललाटं च
उदरं च तैर्लंबते सा तथा । दीर्घस्फिक् दीर्घललाटा दी-
र्घोदरीत्यर्थः । कांतश्च कांतानुजतातौ च ते तथा कांतो
भर्ता कांतानुजो भर्तृकनीयान् कांततातः शशुरस्तान्
क्रमेण नाशयतीति । या स्वल्पनितंबगुह्या सा पतिं
दुह्यात् विरोधवति । 'पश्चान्नितंबः स्त्रीकटिचाम्'
इत्यमरः । गुह्यं योनिः स्वल्पनितंबा स्वल्पगुह्या चेति ।
या दीर्घगला सा कुलघ्नी भर्तृकुलनाशिनी ॥ १७ ॥

निःस्वातिह्रस्वा धमनौ पुरंध्री प्रायेण तत्रा-
तिपृथुः प्रचंडा ॥ कपोलकूपा हसितेऽयशी-
ला कूर्मोदरी दुःखदरी दुरात्मा ॥ १८ ॥

उपजातिः । या स्त्री धमनौ शिरायामतिह्रस्वा अति-
कृशा सा पुरन्ध्री निःस्वा निर्धना भवति । यस्या अति-
कृशाः शिरा इत्यर्थः । 'नाडी तु धमनिः शिरा' इत्यमरः ।
'दाराः स्यात्तु कुटुंबिनी पुरंध्री' इत्यमरः । तत्र तस्यां
धमनौ या अतिपृथुः सा प्रचंडा अत्युग्रा स्यात् ।
यस्याः शिरा अतिस्थूला इत्यर्थः । या हसिते हास्ये सति
कपोलकूपा कपोलयोर्गण्डयोः कृपौ गते यस्याः सा तथा
सा अशीला दुराचारा भवति । या कूर्मोदरी कूर्मसदृश
जठरा सा दुःखदरी दुरात्मा भवति । दुःखस्य दरीव-
दरी दुःखदरी दुःखगुहा दुरात्मा दुष्टस्वभावा । 'डाबुभा-
भ्यामन्यतरस्याम्' इति डाप् ॥ १८ ॥

रेखाभिरंगुष्ठतलैंगजानां पुंस्त्रीप्रसूतिर्विपुला-
ल्पिकाभिः ॥ अच्छिन्नभिन्नाभिरखंडमायुः
खंडं तदन्याभिरमूभिरस्याः ॥ १९ ॥

एवं वरवध्वोः सर्वशरीरलक्षणमुक्त्वा विशिष्टं हस्तच-
रणगतरैखालक्षणमाह श्लोकसप्तकेन । इंद्रवज्रा । अंगुष्ठ-
तले हस्तांगुष्ठमूलाधःस्थिताभिः रेखाभिः विपुलाल्प-

काभिः क्रमेण पुंस्त्रीप्रसूतिर्वाच्या । यावत्यो विपुलरेखा-
स्तावन्तः पुत्राः यावत्यः कृशास्तावत्यः कन्या इत्यर्थः ।
अमूभिः रेखाभिः अच्छिन्नभिन्नाभिः अच्छिन्नाभिः अ-
भिन्नाभिश्च अस्याः पुंस्त्रीप्रसूतेः आयुरायुष्यमखंडं परि-
पूर्णं वाच्यम् । तदन्याभिस्तद्विपरीताभिः छिन्नाभिन्नाभिः
खंडमल्पमायुर्वाच्यम् । तासु रेखासु या या रेखा
अच्छिन्नाभिन्नाः तदपत्यं पूर्णायुः या छिन्नभिन्नाः
तदल्पायुरित्यर्थः ॥ १९ ॥

एका तिर्यक्तर्जनी याति रेखा तर्जन्यंगुष्ठां-
तराले तदन्या ॥ ते द्वे स्यातामायुरैश्वर्यरेखे
तत्सौंदर्यं सुंदरत्वं तयोः स्यात् ॥ २० ॥

शालिनी । एका रेखा तर्जनीं प्रदेशिनीं प्रति तिर्य-
ग्याति तदन्या रेखा तर्जन्यंगुष्ठयोरंतराले स्थिता द्वे
क्रमेण आयुरैश्वर्यरेखे स्याताम् । प्रथमा आयुष्यरेखा
द्वितीया ऐश्वर्यरेखेत्यर्थः । तयो रेखयोः सौंदर्यं सति
अरूक्षगंभीरोति वक्ष्यमाणसौंदर्यं सति तयोः आयुरैश्व-
र्यरेखयोः सुंदरत्वं चारुत्वं स्यात् ॥ २० ॥

ऐश्वर्यरेखाशिखरेण मूलाद्युनक्ति याऽसौ पि-
तृवंशरेखा ॥ नीरंध्रबंधा गृहबंधनाय बंधी-
यसी वंशविवर्धनाय ॥ २१ ॥

उपजातिः । या रेखा मूलात्पाणिमूलाभिर्गता सत्यै-
श्वर्यरेखायाः शिखरमग्रं तेन सार्द्धं युमक्तिं योगं प्राप्नो-
ति सा पितृवंशरेखा भवति । तद्वत्तः पितृवंशो ज्ञेय इ-
त्यर्थः । सा रेखा नीरंध्रबंधा निशिञ्जना बंधरहिता च
गृहबंधनाय भवति । गृहं गृहिणी तस्या बंधनमतिप्री-
तिः सा च रेखा बंधीयसी अतिशयेन बहुला बंधीय-
सी वंशविवर्धनाय भवति । 'प्रियस्थिर-' इत्यादिना बहु-
लस्य बहादेशः ॥ २१ ॥

कनिष्ठिकाजीवितरेखयोः स्यान्मध्ये मि-
थः कांतकलत्ररेखा ॥ अपत्यरीत्या करभे
परस्मिन्भवति सांमातुरवर्गरेखाः ॥ २२ ॥

उपजातिः । जीवितरेखा आयुष्यरेखा कनिष्ठिका-
जीवितयोर्मध्ये करभप्रदेशे स्थिता मिथः परस्परं कांत-
कलत्ररेखाः स्युः । पुरुषहस्ते तावन्त्यस्तस्य भार्याः
स्त्रीहस्ते तावन्तस्तस्याः कांता इत्यर्थः । 'मणिबंधादाक-
निष्ठं करस्य करभो बहिः' इत्यमरः । परे उर्वरस्ते अस्मि-
न्करभे स्थिताः सांमातुरवर्गस्य रेखाः अपत्यरीत्या ज-
याः संमातुरपत्यानि सांमातुराः सोदराः 'मातुरुत्स-
ख्यासंभद्रपूर्वायाः' इत्यण् । उच्चपथांगुष्ठतलपुत्राः कन्याश्च
लक्षितास्तेषामायुष्यं तद्वदस्मिन् जीवितरेखाया
अधःस्थिते करभे भ्रातरो भगिन्यश्च तेषामायुश्च लक्षणी-
यमिति भावः ॥ २२ ॥

अनामिकामूलविभूषणं या पुण्यस्य रेखा
तदवाप्तिहेतुः ॥ निःसीमसीमंतितपंचशाखा
करोर्ध्वरेखा न करोति राज्यम् ॥ २३ ॥

अनामिकाया मूलं तस्य विभूषणमेव विभूषणं या
रेखा नित्यनपुंसकत्वात्स्त्रीविशेषणत्वेपि क्लीबत्वम् ।
अनामिकामूले ऊर्ध्वस्थितेत्यर्थः । सा रेखा पुण्यस्य रेखा
कथंभूता तदवाप्तिहेतुः तस्य पुण्यस्य अवाप्तिः प्राप्तिः
तस्य हेतुः । नित्यपुंल्लिंगत्वात्स्त्रीविशेषणेपि पुंल्लिंगत्वम् ।
तस्यां सत्यां पुण्यप्राप्तिरस्तीत्यर्थः । निर्गता सीमा य-
स्यासौ निःसीमः सीमंतितः पंचशाखो यस्मिन्निति
सीमंतिताः पंचशाखा यस्यासौ पंचशाखः पाणिः निः
सीमः सीमंतितः पंचशाखो यया सा तथा सा ऊर्ध्वरे-
खा कस्य राज्यं न करोति अपि तु सर्वस्यापि राज्यं
करोतीत्यर्थः । ' पंचशाखः शयः पाणिः ' इत्यमरः ।
ययोर्ध्वरेखया द्विधाकृतमिव पाणितलं भवति सावश्यं
राज्यप्रेदत्यर्थः ॥ २३ ॥

अरूक्षगंभीरमनोहराभी रेखाभिरंतर्मधुपिं-
मलाभिः ॥ न चातिवह्नीभिरवामवामेष्वंगेषु
पुंस्त्रीफलयोः स्फुटत्वम् ॥ २४ ॥

इत्यादीनां सर्वासामपि शुभानां रेखासाधारण्येन अ-
तिशयित्वमाह । विपरीतरूपान्की १ अरूक्षाः स्निग्धाः

गंभीरा निम्ना मनोहराः सुंदराः अंतः अभ्यंतरे मधुवत्पि-
गलाः न च अतिबह्वयः न अतिसंकीर्णाः एतादृशीभि-
रुक्ताभी रेखाभिः पुंस्त्रीफलयोः स्फुटत्वं शुभफलाधिक्यं
स्यात् । केषु अवामवामेषु अंगेषु पुरुषस्य दक्षिणहस्त-
चरणादिषु स्त्रिया वामेष्वित्यर्थः ॥ २४ ॥

सरोजश्रीवृक्षध्वजगजतिमिस्तंभकलशस-
गादर्शच्छत्रांकुशकुलिशभृंगारगिरिभिः ॥

रथाश्वश्रीवत्सव्यजनयवयूपप्रभृतिभिर्नरा
नार्यो राज्यं दधति पदपाणिप्रणयिभिः ॥ २५ ॥

अथ करे चरणे वा राज्यचिह्नान्याह । शिखरिणी ।
सरोजं कमलं श्रीवृक्षो बिल्ववृक्षः ध्वजः केतुर्गजो हस्ती
तिमिर्मत्स्यः स्तंभकलशौ प्रसिद्धौ स्रक् माला आदर्शौ
मुकुरः छत्रमातपत्रम् अंकुशः प्रसिद्धः कुलिशं वज्रं भृंगारः
करकः गिरिः पर्वतः रथः प्रसिद्धः अश्वस्तुरगः श्रीवत्सो
विष्णुवक्षसि रोम्णां प्रदक्षिणावर्तः तदुपचारात्प्रदक्षिणा-
वर्तमात्रं गृह्यते । व्यजनं तालं यवो धान्यविशेषः यूपो
यज्ञस्तंभः प्रभृतिभिरित्यादिभिश्चिह्नैः पदपाणिप्रणयिभिः
चरणगतैः पाणिगतैर्वा नराः पुरुषाः नार्यः स्त्रियः राज्यं
दधति धारयन्ति एभिर्लक्षणैः राज्यप्राप्तिरित्यर्थः ॥ २५ ॥

अर्चितं वचनमुन्नतं मनो निर्विशेषसुखदं व-
पुट्टशाम् ॥ अस्ति चेदघपराङ्मुखा मतिर्ल-
क्षणैः किमपरैर्नृयोषिताम् ॥ २६ ॥

अथ मुख्यलक्षणान्याह । रथोद्धता । यदि वचनं
भाषणमर्चितं पूजितं स्यात् । मनोहरमित्यर्थः । मनः-
मानसम् उन्नतं पृथुलं नाल्पविषये मनःप्रवृत्तिरित्यर्थः ।
वपुः शरीरं दृशां नेत्राणां निर्विशेषसुखदं निर्विशेषमधिकं
सुखं तत्प्रददातीत्यर्थः । मतिर्बुद्धिः अवपराङ्मुखा पात-
कात्परावृत्ता तदा नृयोपितां पुरुषाणां स्त्रीणां वा परै-
र्लक्षणैः किम् । एषु चतुर्षु लक्षणेषु सत्सु अन्येषां शुभ-
लक्षणानां किमपि न प्रयोजनमिति भावः । इति
सामुद्रिकलक्षणानि ॥ २६ ॥

वरस्य कन्यावरणे वरेण्यो दुर्गेव यो दक्षिण-
चेष्टितश्च । अदक्षिणं चेष्टितमिष्टमाहुस्तयोः
कुमारी वृणुयाद्भरं चेत् ॥ २७ ॥

अथ निमित्तानि । तत्र वरणकाले पक्षिचेष्टितमाह ।
उपजातिः । वरस्य कन्यावरणसमये यदा वरः कन्यां
वरीतुमिच्छति तस्मिन्काले यः कश्चन पुंलिंगः पक्षी
दक्षिणचेष्टितः दक्षिणांगे कंडूयन् कंपनादिभिश्चेष्टितो
भवति स वरेण्यः अतिशुभः स्यात् । का इव दुर्गा इव ।
दुर्गा कृष्णचीटिका । स्त्रीलिंगपक्षिषु मध्ये दुर्गापि दक्षि-
णचेष्टिता शुभेत्यर्थः । अर्थादनयोर्वामचेष्टितमशुभमिति ।
कुमारी नरं चेद्वृणुयात्तस्मिन्काले तयोः पुंलिंगपक्षिदु-
र्गयोः अदक्षिणं वामांगचेष्टितमिष्टं शुभमाहुः ॥ २७ ॥

शुनो गतिर्दक्षिणेष्टा कुमारी यत्र काक्षिणी ॥
अदक्षिणा तत्र यत्र वर एतां बुवूर्षति ॥ २८ ॥

अथ शुनश्चेष्टितमाह । अनुष्टुप् । यत्र कुमारी काक्षि-
णी वरं वरीतुमिच्छति तत्र शुनः शुनकस्य दक्षिणां
स्वकीयदक्षिणभागे गतिरिष्टा शुभा । यत्र वरः एतां
कुमारीं बुवूर्षति वरीतुमिच्छति तत्र शुनो गतिर्दक्षिणा
स्वस्य वामभागे चेत्तदा शुभा ॥ २८ ॥

आरोप्याक्षतपूरिते गणपतिं प्रस्थादिपात्रे
शनैः संमार्जन्यववेष्टिते युवतयस्तिस्त्रः स-
कन्या निशि ॥ निर्याता रजकादिवेश्मसु
करे कृत्वा तमभ्यर्चितं यां वाचं शृणुयुस्तद-
र्थसदृशी सिद्धिः किलोपश्रुतो ॥ २९ ॥

अथोपश्रुतिशकुनमाह । शार्दूलविक्रीडितम् । अक्षतै-
स्तंदुलैः परिपूरिते प्रस्थादिपात्रे प्रस्थकुडवादीनां मान-
पात्रे संमार्जन्या अववेष्टिते आच्छादिते गणेशप्रतिमामा-
रोप्य प्रक्षिप्य सकन्याः एकया कुमार्या सहितास्तिस्त्रो
युवतयः सुवासिन्यः निशि रात्रौ रजकादीनां वस्त्रनिर्ण-
जकमद्यकारादीनां वेश्मसु गृहसमीपे शनैर्निर्याताः ।
किं कृत्वा एवंविधगणपतिं गंधपुष्पादिभिरर्चितं पूजितं
करे हस्ते कृत्वा तस्मिन् गृहे स्थितानां मनुजानां यां
वाचं यद्वचनं शृणुयुः आकर्णयेयुः तस्यार्थः अभि-

प्रायः तेन सदृशी सिद्धिः चिंतितकार्यस्य सिद्धिर्ज्ञेया ।
 किलोति निश्चये । अत्राधिवासनमंत्रादिकं विधान-
 मालाद्युक्तं ज्ञेयम् ॥ २९ ॥

श्रुतित्रिपूर्वावसुबह्निमित्रविश्वानिलक्षे वरणं
 कुमार्याः ॥ तच्चावमन्येत न चेतसापि यदा-
 चरेयुः स्वकुलोक्तमार्याः ॥ ३० ॥

इत्यादिलक्षणेः परीक्षितां कन्यां वरो वरयेत्कन्या-
 पि वरमित्युक्तम् । तत्र कन्यावरणनक्षत्राणि कुलधर्मा-
 नतिक्रमणं चाह । उपजातिः । श्रुतिः श्रवणः त्रिपूर्वा-
 पूर्वात्रितयं वसवो धनिष्ठा बह्निः कृत्तिका मित्रोत्तराषाढा
 विश्वे उत्तराषाढा अनिलः स्वाती एष नक्षत्रेषु कुमार्या
 वरणं स्यात् । अथ कुलधर्मः । यत् आर्याः वृद्धतमाः
 स्वकुलोक्तं स्वकुलपरंपरागतमाचरेयुः तच्चेतसापि
 नावमन्येत तस्यावज्ञा मनसापि न कार्या । किं पुनः
 साक्षात् । अतस्ते कुलधर्मा अवश्यं कर्तव्या इत्यर्थः ।
 तत्राप्यागमविरुद्धा न कार्याः । वेशाचाराः कुलाचारा-
 ये तु विध्यविरोधिनः इति स्मरणात् ॥ ३० ॥

वेदिकां विरचयेद्यथा तथा स्यादियं प्रवि-
 शतश्च दक्षिणे ॥ स्युर्जनाश्रययवोप्तिवार्णि-
 काः षण्णवत्रिदिवसेषु नाग्रतः ॥ ३१ ॥

अथ वेदिकानिर्माणं तत्प्रभृतीनां कालं चाह । रथो-
द्धता । वेदिकां तथा रचयेत् । तथा कथम् । यथा इयं
वेदिका ग्रहं प्रविशतः पुरुषस्य दक्षिणे भागे भवति ।
तस्याः लक्षणभूषणादिकं नारदादिभिरुक्तं ज्ञेयम् । इत्या-
दीनां विवाहकृत्यानामारंभकालमाह—स्युरिति । जना-
श्रयो मंडपः ‘मंडपोऽस्त्री जनाश्रयः’ इत्यमरः । यवो-
त्तिर्यववापः अंकुरार्पणमिति यावत् । तत्प्रकारः शौनक-
स्मृत्यादिपूतः । वर्णिकाः लोकप्रसिद्धाः अपूपविशेषाः ।
यद्वा—वर्णिका रंगवल्ल्यादयः । एतदुपलक्षणेन दलनकं-
डनवारकादि गृह्यते । एतानि अग्रतः पूर्वं लग्नदिनमा-
रभ्य षण्णवत्रिषु षष्ठतृतीयनवमेषु दिवसेषु न स्युः । प-
श्चादपि तदुद्वासनादिकं च ज्ञेयम् । केचित्तु नवमदिनं
शुभमाहुः । देशाचारतो व्यवस्था ॥ ३१ ॥

कन्यकोक्तविधिवत्पुलोमजापूजनं सयुवतिः
समाचरेत् ॥ घ्नंति चाशुभमविघ्नमातरो
मातृयज्ञकुलकर्मशांतयः ॥ ३२ ॥

इति विवाहवृन्दावने मिश्राध्याय-
श्चतुर्दशः ॥ १४ ॥

अथेंद्राणीपूजनादिकमाह । युवातीभिः सुवासिनीभिः
सहिता सयुवतिः कन्यका उक्तविधिवत् सुभगामथेंद्रप-

र्त्नी घटकारमृदा सुलक्षणावयवामित्यादिना शौनका-
द्युक्तविधिना पुलोमो जाता पुलोमजा इन्द्राणी तस्याः
पूजनं समाचरेत् । अथ मातृकादिपूजा । व्रंतीति । मा-
तरो द्विविधाः दैव्यो मानुष्यश्चेति । तत्र दैव्यो गौरीप-
द्मेत्यादयो ब्राह्मीमाहेश्वरीत्यादयश्च । मानुष्यः मातृमा-
तामह्यादयश्चतुर्विंशतिमतोक्ताः तासां यज्ञः पूजादिकं
कुलकर्मशांतयः कुलोक्ताचारवशतो याः शांतयः कुल-
देवताराधनादयः ता अविघ्नमातरः निर्विघ्नं निष्पादिताः
अशुभं व्रंति नाशयन्ति । चः समुच्चये । पुलोमजापूजनं
च अशुभं हन्तीत्यर्थः । अतः शचीमातृकापूजादिकम-
वश्यं कर्तव्यमिति भावः ॥ ३२ ॥

इति श्रीसकलागमाचार्यवर्यश्रीकेशवसांवत्सरा-
त्मजगणेशविरचितायां विवाहवृन्दावनटी-
कायां विवाहदीपिकायां मिश्राध्याय-
श्चतुर्दशः ॥ १४ ॥

अथ वधूवरप्रश्नाध्यायः ।

कर्मायसूनुसहजस्मरगो मृगांकः स्त्रीपुंससं-
गमयिता यदि जीवदृष्टः । स्वर्क्षाणि शुक्र-
शशिदृष्टियुतानि कन्या लब्धयै वधूगृहद-
काणनवांशका वा ॥ १ ॥

अथ वधूवरप्रश्नाध्याय आरभ्यतो तत्रादौ वधूप्रश्ना-
 ह । वसंततिलका । अस्माकमस्याः कन्यायाः लाभो
 भविष्यति न वेत्यस्मिन् प्रश्नकाले यल्लग्नं तस्माल्लग्नान्त
 कर्मायसूनुसहजस्मरगः दशमैकादशपंचमतृतीयसप्तमी
 मृगांशश्चंद्रो जीवेन गुरुणा दृष्टस्तदा स्त्रीपुंससंगमयिता
 स्यात् । स्त्रीपुंसेति अचतुरादित्वात्साधुः । तयोः संगमं
 समागमं करोतीति स्त्रीपुंससंगमयिता कन्यालाभं करो-
 तीत्यर्थः । अयं योगः कन्याया वरलाभप्रश्नेपि, अविशे-
 षात् । योगांतरमाह—स्वर्क्षाणीति । शुक्रशशिभ्यां दृष्टानि
 युतानि वा स्वर्क्षाणि लग्नं गतानि स्वराशयश्चंद्रशुक्ररा-
 शयः कर्कितुलावृषभाः कन्यालब्धयै कन्यालाभाय भ-
 वंति । योगांतरमाह—वधूगृहेति । वधूसंज्ञाः समराशयो
 वृषकर्कटादयस्तेषां गृहाणि दृकाणा वा नवांशका वा
 लग्नगताः शुक्रशशिदृष्टयुताः कन्यालब्धयै भवंति ॥ १ ॥

युग्मर्क्षगौ शशिसितौ द्विपदांगनांशे स्यातां
 तदाप्तिपिशुनौ तनुमीक्षमाणौ ॥ नारीनवां-
 शमुदितं खचराः परेपि स्त्रीणर्क्षगा विलसदु-
 ज्ज्वलवीर्यभाजः ॥ २ ॥

योगांतरमाह । युग्मर्क्षगौ समराशिस्थितौ शशिसितौ
 द्विपदांगनांशे स्थितौ द्विपदश्चासावंगनांशश्च स च क-
 न्यांश एव तत्र स्थितौ तनुं लग्नमीक्षमाणौ पश्यंतौ तदा

तौ तदाप्तिपिशुनौ स्तः । तस्याः कन्याया आप्तिस्तस्याः
पिशुनौ सूचकौ कन्यालाभसूचकावित्यर्थः । अत्र बलि-
नाविति शौनकीये विशेषोस्ति । योगांतरमाह—नारीति ।
उदितमुदयं प्राप्तं लग्नगतमित्यर्थः । उदितं नारीनवांशं
स्त्रीनवांशं वृषकर्कादिकं शशिसितावीक्षमाणौ तदाप्तिपि-
शुनावित्यनुवृत्तिः । योगांतरमाह—खचरा इति । परेपि
शुक्रशनैश्चरव्यतिरिक्ता अपि खचराः स्त्रैणर्क्षगाः समरा-
शिस्थिताः स्त्रीणामिमानी स्त्रैणानि । 'स्त्रीपुंसाभ्यां न-
ञ्स्त्रजौ—'इति नञ् । विलसंतः स्निग्धा उज्ज्वलाः प्रका-
शमानाः, वीर्यभाजः सबलाः उदितं नारीनवांशमीक्ष-
माणाः कन्याप्राप्तिसूचका इत्यनुवृत्तिः ॥ २ ॥

एवं नरा नरदृकाणनवांशदृग्भिः पुंस्खेचरै-
रुपनमंति नितंबिनीनाम् ॥ यल्लिंगिवालक-
पशुप्रभृतींगितं स्यात्प्रश्नक्षणे तदु तथैव
वधूवरस्य ॥ ३ ॥

अथ कन्याया वरोपलब्धिप्रश्नमाह । एवमनेन स्व-
क्षाणि शुक्रशशीत्यादिविधिना नराः पुरुषा नितंबिनीनां
स्त्रीणामुपनमंति समागच्छन्ति । लब्धा भवन्तीति यावत् ।
कैः नरदृकाणनवांशदृग्भिः पुंस्खेचरैः नरा विषमराशयो
मेषमिथुनादयस्ते च ते दृकाणनवांशाश्च नरद्रेकाणाः

नरनवांशाश्चेति तान्पश्यन्ति ते नरदृकाणनवांशदृशः तैः
 पुंस्त्वेचरैः पुरुषग्रहैः रविभौमगुरुभिः । एतदुक्तं भवति—
 स्त्रीग्रहौ किल शशिसितौ यत्र शशिसितावुक्तौ तत्र
 पुंग्रहा ग्राह्याः यत्र स्त्रीदृकाणस्तत्र नरदृकाणः यत्र स्त्री-
 नवांशस्तत्र नरनवांशः यत्र स्त्रीराशिस्तत्र नरराशिरिति
 एवमनेन विधिना उक्तयोगैरेव कन्याया वरोपलब्धिर्ज्ञे-
 येति । अथ निमित्तानि—यल्लिङ्गीति । प्रश्नक्षणे प्रश्नकाले-
 लिङ्गिनः कापालिकाः बालकाः प्रसिद्धाः पशवः छागवृष-
 तुरगादयः । प्रभृतिग्रहणाद्भिषुकोन्मत्तादीनां ग्रहणं तेषां
 यदिङ्गितं चेष्टितं तद्वधूवरस्य तथैव भवति । उरित्यव्ययं
 निश्चये । ‘तिष्यपुनर्वस्वोर्नक्षत्रद्वन्द्वे’ इत्यत्र इतरेतरयोगद्व-
 द्वेऽप्येकत्वज्ञापकात्सर्वोऽपि द्वन्द्वो विभाषया एकवत्स्यात् ।
 अतो वधूवरस्येत्येकत्वम् ॥ ३ ॥

प्रश्नोदयादमृतरोचिषि षण्मृतिस्थे मूर्तौ च
 तत्र मदनस्पृशि चावनेये ॥ तन्वस्तथोर-
 शुभसंगतयोर्वरस्य नाशः क्रमाद्वसुमहीमु-
 निसंमितेब्दे ॥ ४ ॥

अथ वधूवरप्रश्नकाले शुभाशुभयोगानाह । प्रश्नका-
 ले उदयः प्रश्नोदयः । प्रश्नोदयः प्रश्नलग्नं तस्मात्प्रश्नोद-
 यादमृतरोचिषि चंद्रमसि षण्मृतिस्थे षष्ठे अष्टमस्थे वा
 सति अयमेकश्चंद्रकृतो योगः । तत्र तस्मिन् चंद्रमसि मू-

तौ लग्नस्थे सति अवन्याः अपत्यमावनेयः भौमः ।
 'कृदिकारात्—'इति ङोषि कृते 'स्त्रीभ्यो ढक्' तस्मिन् भौमे
 मदनस्पृशि सप्तमस्थे सति । चः समुच्चये । अयं चंद्रभौ-
 मकृतो द्वितीयो योगः । तन्वस्तयोर्लग्नसप्तमयोः अशु-
 भसंगतयोः पापग्रहयुक्तयोः सतोः अयं पापद्वयकृतस्तृ-
 तीयो योगः । एषु योगेषु क्रमादसुमहीमुनिसंमितेन्दे
 वरस्य नाशः स्यात् प्रथमे योगे अष्टमे वर्षे द्वितीये प्रथमे
 वर्षे तृतीये सप्तमे वर्षे इत्यर्थः ॥ ४ ॥

जामित्रगौ विधुसितौ विधवामसाध्वी सौरिः
 कुजोऽसुरमहेज्यबुधौ धनाढ्याम् ॥ दीर्घा-
 युषं वपुषि सुप्रसवां प्रसूतौ स्त्रीजातकोक्तम-
 खिलं खलु चिंत्यमत्र ॥ ५ ॥

जामित्रगौ सप्तमस्थौ विधुसितौ चंद्रशुक्रौ वधूं विधवां
 कुरुतः । सौरिः शनिः कुजो भौमः जामित्रगः असाध्वी
 दुराचारां करोति । शौनकीये तु शनिमृतप्रजां भौमो मर-
 णयुक्तामिति । तथापि फलं दुष्टमेव । महांश्वासौ इज्यश्च
 महेज्यः असुराणां महेज्यः शुक्रः बुधः प्रसिद्धः तौ जामि-
 त्रगौ धनाढ्यां कुरुतः । वपुषि लग्ने स्थितौ दीर्घायुषं कु-
 रूतः । प्रसूतौ पंचमे स्थितौ सुप्रसवां शुभसंततिं कुरुतः ।
 कुत्रचित्सुरमहेज्येति पाठः । तदसत् । यदाह शौनकः—

“यदि पृच्छकलग्नस्थौ भृगुसौम्यौ जीविनीं कुरुतः ।
पंचमसंस्थौ पुत्राजामित्रगतौ विपुलधनम्” इति ।
अस्मिन् वधूवरप्रश्नकाले स्त्रीजातकोक्तमखिलं शुभाशुभं
चित्यम् ॥ ५ ॥

भतिथिवारफलानि पदेपदे विरचितानि प-
रैरिति नोचिरे ॥ सकलकर्मसु यस्तदुपक्रमः
स हि विवाहमेव शुभे दिने ॥ ६ ॥

एवं कन्यावरोपलब्धिमुक्त्वा तल्लभे सति दलनकंड-
नादिविवाहकृत्येषु शुभकालमाह। द्रुतविलंबितम् । दलन-
कंडनादिषु सकलकर्मसु भतिथिवारफलानि नक्षत्रादि-
फलानि परैरन्यैः पदेपदे विरचितानि । पदेपदे इति लौ-
किकाभिप्रायेणोक्तम् । अल्पकृत्येष्वपि पृथक्फलानि
विशेषाभावेऽप्युक्तानीत्यर्थः । तानि पृथक्फलानीति का-
रणादस्माभिर्नोक्तानि । केचित्परोक्षाऽभावेऽपि भूतमात्रे
लिटमिच्छन्ति । तथाच मुग्धबोधे ‘भवद्भूतभव्येषु
क्यादयस्त्रयस्त्रिंशा’ इति । अत एव वराहादिप्रयोगाः—
‘होरां वराहमिहिरो रुचिरां चकार’ इति । उदयनस्यापि—
‘व्यातेने किरणावलीम्’ इति । इतीति कथम् । हि
यस्मात्कारणात्तदुपक्रमस्तेषां सकलकर्मणां दलन-
कंडनादीनां य उपक्रमः आरंभः स विवाहमेव वि-

वाहनक्षत्रे एव शुभे दिने स्यात् शुभे व्यतिपातविष्ट्या-
दिमहादोषरहिते षण्णवत्रिदिवसेषु नाग्रत इति निषि-
द्धादन्यदिने च । तथा च श्रीपतिः—‘ विवाहकृत्यं
निखिलं विवाहभे विलोकयेन्नात्र बलं हिमद्युतेः ॥ न च
त्रिषष्ठोपि च वारकः शुभ’ इति ॥ ६ ॥

प्रायो विवाहपटलं तटलंबमानस्तंबोपमं
न सहते नयचालनानि ॥ वृंदावने परमता-
तपपीडयमानवृंदावनेनुरमतामिह सन्म-
तिश्रीः ॥ ७ ॥

इति विवाहवृंदावने वधूवरप्रश्ना-

ध्यायः पंचदशः ॥ १५ ॥

अथ निजकृतस्यास्य विवाहपटलस्य पूर्वभ्यो वैशि-
ष्ट्यमाह । वसंततिलका । प्रायो बाहुल्येन विवाहपटलं वि-
वाहफलसमूहः नयेन तर्केण चालनानि न सहते हेत्वा-
दिना चालयितुं न शक्यते । आगमसिद्धत्वादिति भावः ।
अत्र विशेषणद्वारेण दृष्टान्तः—तटेति । तटे नदीतटे लंब-
मानः प्रशिथिलमूलो यः स्तंबस्तृणस्तंबः तेनोपमीयते
तत्तथा । यथा तटस्थो लंबमानस्तृणस्तंबो न चालनं
सहते चालिते त्वधःपतनमेव । तद्वद्विवाहपटलमपीत्य-
र्थः । अत इह मयोक्तं वृंदावने एतन्नाम्नि विवाहपटले
सन्मतिश्रीः सतां विदुषां मतिः बुद्धिस्तस्याः श्रीः संपद्-

मतां सुखेन क्रीडताम् । अत्र हेतुः । कथंभूते परमतेति ।
 परेषां मतानि तदेवातप उष्णं तेन पीड्यमानास्तेषां वृन्दं
 तद्वत् प्रीणयतीति तथा । अयं भावः—यथा कश्चन
 आतपे पीड्यमानो वने गत्वा सुखेन रमते तद्वत्परमतैः
 पीड्यमानोऽस्मिन् वृन्दावने सुखेन रमतामिति । अथांते
 श्रीप्रयोगः समाप्त्यलंकारे यथात्र ग्रंथारम्भे ॥ ७ ॥

इति श्रीसकलागमाचार्यवर्यश्रीकेशवसांवत्सरा-
 त्मजगणेशविरचितायां विवाहवृन्दावनटीकायां .
 वधूवरप्रश्नाध्यायः पंचदशः ॥ १५ ॥

अथ स्ववंशवर्णनाध्यायः ।

अभृद्धरद्वाजमहर्षिवंशे विश्वावतंसे श्रुतित-
 त्ववेदी ॥ औदीच्यचारित्रपथप्रवर्ती जनार्-
 दनो याज्ञिकचक्रवर्ती ॥ १ ॥

अथ स्ववंशवर्णनपूर्वकं—ग्रंथालंकारमाह । उपजातिः ।
 भरद्वाजश्चासौ महर्षिश्च तस्य वंशे भरद्वाजगोत्रे वि-
 श्वावतंसे अवतंसः कर्णपूरः विश्वस्य अवतंस इवावतंसः
 तस्मिन् विश्ववंद्य इत्यर्थः । जनार्दनो नामाभूत् । कथं-
 भूतः । श्रुतीति । श्रुतीनां वेदानां तत्त्वं याथार्थ्यं तद्वेत्ती-
 ति तथा । औदीच्याः औदीच्यजातीयजनाः तस्मिन्

देशे ज्ञातयोनेकविधाः प्रसिद्धाः तेषां चारित्रं प्रचारस्त-
स्य पंथाः मार्गस्तं प्रवर्तयतीति तथा । औदीच्याचार-
मार्गप्रवर्तक इत्यर्थः । अनेन स्वधर्मोपासक इति सूचितम् ।
याज्ञिकेषु चक्रवर्तीव चक्रवर्ती श्रेष्ठतम इत्यर्थः ॥ १ ॥

अस्ति श्रियादित्य इति स्म तस्य सूनुः

श्रियादित्य इति द्वितीयः ॥ त्रिस्कंधपारंगत

रंगमल्लस्तदात्मजो राणग इत्युदीर्य ॥ २ ॥

तस्य जनार्दनस्य द्वितीयः सूनुः श्रियादित्य इत्य-
स्ति स्म आसीत् । इति सूर्यनामेत्याह—क इव श्रिया
दीप्त्या आदित्य इव । तस्य श्रियादित्यस्य आत्मजः
उदीर्य राणग इत्यासीत् । उदीर्यते तदुदीर्य कथनीयं
तस्मिन्नास्तीति यावत् राणगनामेत्यर्थः । कथंभूतः
त्रिस्कंधेति । त्रिस्कंधाः होरागणितसंहिताख्याः तेषां पारं-
गता अशेषज्ञातारः तेषां रंगे युद्धभूमौ मल्ल इव मल्लः ।
मल्लो बाहुयुद्धकुशलः । त्रिस्कन्धज्योतिःशास्त्रविदां
पराभवकृदित्यर्थः ॥ २ ॥

श्रीकेशवः सुकविरध्ययनाध्वनीनव्यूहा-

न्प्रतर्पयितुमर्थपयःप्रवाहैः ॥ दैवज्ञराणग-

सुतः सुतपःश्रयैस्मिन्वृन्दावने मुनिगवी-

निवहं दुदोह ॥ ३ ॥

वसंततिलका । अस्य दैवज्ञस्य राणगस्य सुतः श्री-
 केशवः सुकविः शोभनकविरस्मिन्वृन्दावने सुतपःश्रये
 मुनिगवीनिवहं दुदोह । मुनीनां गावो मुनिगव्यः षष्ठी-
 तत्पुरुषः ‘ गोरतद्धितलुकि ’ इति सूत्रेण टच् प्रत्ययः
 टित्वात् ङीप् । तासां निवहः समूहस्तं दुदोह दुग्ध-
 वान् । किमर्थम् अध्ययनाध्वनीनव्यूहान् अर्थपयःप्रवा-
 हैः प्रतर्पयितुम् अध्ययनस्य अध्वा अध्ययनाध्वा तम-
 लंगामिन इत्यध्ययनाध्वनीनाः अध्ययनमार्गज्ञानशी-
 लाः ‘ अध्वनो यत्सौ ’ इति खः । अलंगामीत्यर्थः ।
 ‘ आत्माध्वानौ खे ’ इति अनः प्रकृतित्वम् । तेषां व्यूहाः
 समूहाः तान् अर्थपय इव अर्थः पयः तस्य प्रवाहा ओघाः
 तैः सुष्ठु तपो येषां ते सुतपसः सुपुण्याः तैः श्रीयते से-
 व्यते तत्तथा । अत्रायं श्लेषः—सुतपोभिः सेव्यमाने वने
 अध्वगमनेन खिन्नान्पयःप्रवाहैस्तर्पयितुं गावो दुह्यन्ते त-
 द्दत्सुपुण्यैः सेव्यमानेस्मिन्वृन्दावननाम्नि ग्रंथे अन्यग्रंथा-
 ध्ययनेन खिन्नानर्थप्रवाहैस्तर्पयितुं मुनिगव्यो मया
 दुग्धा इति । तद्वचनेभ्यः सारं संगृहीतमित्यर्थः ॥ ३ ॥

अबहुदृष्टधियः कियदप्यदः पदगभीरम-
 धीरभिरंस्यते ॥ विशदशास्त्रधियां त्विदमे-
 कदा श्रुतिगतं रसनासु विवृत्स्यति ॥ ४ ॥

अत एतत्सुज्ञेभ्य एव रोचिष्य ते कथमज्ञेभ्य इत्या-
 शंकायामाह । द्रुतविलंबितम् । न बहु दृष्टं यया सा अब-
 द्बुद्धा सा धीर्यस्यासौ अबद्बुद्धधीः तस्य अल्पदृष्टशा-
 स्त्रस्य अदः एतदपि कियत् किं परिमाणमस्येति कियत्
 विशिष्टगुणमप्येतत्तस्य न किं चिदिति भावः । अधीर-
 बुद्धिः अभिरंस्यते अभिरामं प्राप्स्यति । अत्र विशेषण-
 द्वारा हेतुः । पदेति । पदैः गभीरं गंभीरपदमतिमंदबुद्धि-
 स्तु अर्थं जानातु न वा पदगंभीरत्वादेवाह्लादयिष्यती-
 त्यर्थः । विशदशास्त्रधियां तु विशेषेण विशदा अत्याधि-
 का शास्त्रे धीर्येषां ते तथा । तेषां तु इदमेकवारमेव श्रुति-
 गतं कर्णप्राप्तं सत् रसनासु जिह्वासु विवृत्स्यते विवृद्धिं
 प्राप्स्यति । गोप्यं रसनागतं सद्यस्यकस्यापि नोच्यते
 इदं कर्णपथे गतं सत् रसनासु विवृत्स्यत इति रुच्यति-
 शयोक्तिः । उक्तं हि भर्तृहरिणा— “अज्ञः सुखमाराध्यः
 सुखतरमाराध्यते विशेषज्ञः । ज्ञानलवदुर्विदग्धं ब्रह्मापि
 नरं न रंजयति” ॥ इति ॥ ४ ॥ इति ग्रंथालंकारः ।

अत्र ग्रंथकृदुक्तयुक्तिममलां व्याख्याय सम्यक्तत-
 स्तत्कुत्रापि महद्विरोधिं कुहचिद्वर्थं वृथैवोज्झितम् ।
 सद्युक्त्या तु निरस्य सारमुदितं तत्क्षम्यतां सज्जना-
 स्ताद्विश्वासवतां प्रतीतिरिह न स्यात्तं निरासं विना ॥ १ ॥

पश्चात्सागरपूर्ववर्तितटगे ग्रामेत्र नद्याभिधे
 रंभापूगरसालशीर्षनिचुलच्छायाविताने वसन् ।
 नानाशास्त्रकलाकलापचतुरः श्रीकेशवोऽस्यात्मज
 ष्टीकांयुक्तिमतीं गणेशविवुधो वृन्दावनस्याकरोत् ॥ २ ॥
 रसनगमनु १४७६ तुल्ये शाक आनन्दवर्षे
 विवृतिमकृत शस्तां दीपिकाख्यां गणेशः ॥
 यदिह लिखितमल्पानल्पकं वा सदोषं
 तदातिविमलधीभिः शोध्यमित्यर्थयेतान् ॥ ३ ॥
 इति श्रीसकलागमाचार्यवर्यश्रीकेशवसांवत्सरात्मजग-
 णेशदैवज्ञविरचितायां विवाहवृन्दावनटीकायां विवाहदी-
 पिकाख्यायां स्ववंशवर्णने षोडशोऽध्यायः ॥ १६ ॥

अथ लग्नशुद्ध्यध्यायः ।

ध्रुवानुराधामृगमूलरेवतीकरं मघा स्वाति-
 रद्वषणो गणः ॥ रवेरमीना मकरादिषड्गृ-
 ही करग्रहे मंगलकृन्मृगीदृशाम् ॥ १ ॥

विवाहोपपदं वृन्दावनं व्याख्याय कैशवम् ॥

तत्कृतां लग्नशुद्धिं च गणेशो व्याचिकीर्षति ॥ १ ॥

तत्रादौ विहितनक्षत्रादिकमाह । ध्रुवादिः स्वात्यंतोय-

मेकादशनक्षत्रात्मको गणश्चेदद्वषणः वक्ष्यमाणपादत्रेव

दिदोषरहितस्तदा मृगीदृशां स्त्रीणां करग्रहे मंगलकृ-
त्स्यात् ॥ १ ॥

क्रूरोज्झितं द्विःशशिभोगतोर्वाक्तदाप्यमा-
ढ्यं च शुभं न भं स्यात् ॥ त्र्यष्टार्कविंशं च
कुजार्किभानुस्वर्भानुतस्सत्रिविधाद्भुतञ्च ॥ २ ॥

अथ श्लोकत्रयेण नक्षत्रशुद्धिमाह । क्रूरेण पापग्रहेण
उज्झितं त्यक्तं भं नक्षत्रं न शुभं स्यात् । तदाप्यं तेन क्रूर-
ग्रहेण आप्यं प्राप्यं भोग्यमाढ्यं युक्तं च । अथ लत्ता ।
त्र्यष्टेति । कुजो भौमः आर्किः शनिः भानू रविः स्वर्भानू
राहुः तेभ्यः सकाशात्क्रमेण त्र्यष्टार्कविंशं तृतीयमष्टमं
द्वादशं विंशं च सत्रिविधाद्भुतं त्रिविधैर्दिव्यभौमांतरिक्षै-
रद्भुतैरुत्पातैः सहितं च द्विःशशिभोगतोर्वाक् न शुभं
स्यादिति प्रत्येकं संबध्यते । द्विवारं द्विः एभिदोषैस्त्वत्रापि
नक्षत्रं द्विधा चंद्रभोगादर्वाक् न शुभम् । द्वितीये चंद्रभोगे
शुभदं भवतीत्यर्थः । न शुभमित्यग्रेष्वनुवर्तनीयम् ॥ २ ॥

वैसाहगंशूव्यसमाप्तिसाग्रं संक्रांतिसाम्यं
खलवेधवच्च ॥ स्वाश श्रमो भान्वभिरो पुन-
र्मृश्च रेमृहांणां त्रिभिरुत्तरैः स्यात् ॥ ३ ॥

अथ चंडायुधादि । वै वैधृतः सा साध्यः ह हर्षणः गं
गंडः शू शूलः व्य व्यतीपातः तेषां समाप्तिरवसानं तत्र

साग्रं सशेषं यत्, येषां योगानामन्ते वर्तमानमित्यर्थः ।
यच्च संक्रांतिसाम्यं चंद्रार्कयोस्तेन सहितं यस्मिन्नक्षत्रे
महापात इत्यर्थः । यच्च खलवेधवत् पापग्रहवेधयुक्तं तमेव
वेधमाह-स्वाशोति । स वेधः स्वाशाद्यैराद्यक्षरैरुपलक्षि-
तनक्षत्राणां क्रमेण द्वयोर्मिथः स्यात् । स यथा-स्वा स्वा-
ती श शततारका अनयोर्मिथो वेधः । स्वातिस्थे न ग्रहे-
ण शततारका विद्धा शततारकास्थेन स्वातीति । एवमु-
त्तरत्रापि । श्र श्रवणः मः मघा अनयोर्मिथो वेधः ।
भभरणी अनु अनुराधा अनयोर्मिथो वेधः । अभि अभि-
जित रो रोहिणी अनयोर्मिथो वेधः । पुनः पुनर्वसुः मूः
मूलम् अनयोर्मिथो वेधः । रेमृहाणां वेधः क्रमेण त्रिमै-
रुत्तरैः स्यात्, रेवत्युत्तरफलगुन्योः मृगोत्तराषाढयोः
इस्तोत्तराभाद्रपदयोरित्यर्थः ॥ ३ ॥

एकार्गलः साभिजितींदुतोर्कः समेस्ति योगे-
ष्वशुभाह्वयेषु ॥ चतुर्दशं चेंदुभमर्कधिष्ण्या-
दितीयमुक्तोद्वहनर्क्षशुद्धिः ॥ ४ ॥

अत्रैकार्गलादिकमाह । अशुभाह्वयेषु दुष्टनामसु योगेषु
सत्सु इंदुतः इंदुनक्षत्रात् अर्कः सूर्यः साभिजिति समे
ऋक्षे भवति तदा एकार्गलोस्ति । एतदुक्तं भवति-व्या-
घात-शूल-परिघ-व्यातिपात-विष्कंभ-गंडा-ऽतिगंड-

वज्र-वैधृता अशुभनामयोगाः । एष्वन्यतमे योगे सति चंद्रनक्षत्रमारभ्य अभिजिता सह अर्कनक्षत्रं गणयित्वा यदि युग्मा संख्या भवति तदैकार्गलः स्यात् । तद्धं न शुभमित्यनुवृत्तिः । अथ संध्योदितमर्कधिष्ण्याच्चतुर्दश-मिदुभं चंद्रनक्षत्रं च अशुद्धमशुभं स्यात् । इतीयमुद्ग्रह-नक्षत्रस्य विवाहनक्षत्रस्य शुद्धिसक्ता ॥ ४ ॥

षट्त्रयायेष्वशुभाः शुभाय निधनचूनांत्यव-
र्ज्यं परे त्रयायार्थेषु शशी मृतौ शनितमः-
सूर्याः परे मंगदाः ॥ क्रूरचूनवृत्तान्विते शशि-
तनू अस्ते सितज्ञौ विधुर्लग्ने सोमसिताधि-
पा द्विषि सितः सेंदुर्विनष्टोऽंशपः ॥ ५ ॥

अथ लग्नशुद्धिमाह । षट् षष्ठं, त्रयस्तृतीयम्, आय एका-
दशम्, एष्वशुभाः पापग्रहाः शुभाय भवन्ति । शेषेष्वशु-
भाय । निधनमष्टमं चूनं सप्तमम् अंत्यं द्वादशम् एता-
नि वर्जयित्वा अन्येषु नवसु स्थानेषु परे सौम्यग्रहा बुध-
गुरुशुक्राः शुभाय स्युः, शेषेषु निधनचूनांत्येष्वशुभाय ।
शशी चंद्ररूपायार्थेषु तृतीयैकादशद्वितीयेषु शुभाय भवेत्
शेषेष्वशुभाय । तत्राष्टमे सर्वेषां विशेषमाह । मृताविति ।
मृतावष्टमे शनितमःसूर्याः शुभाय स्युः, न त्वशुभाय ।
अत्र राहुग्रहणात्तत्स्वरूपांतरं केतुश्च । परेऽन्ये चंद्रभौम-

बुधगुरुशुक्राः मृतौ स्थिता भंगदाः लग्नभंगाय स्युः ।
 अन्यानपि लग्नभंगानाह-कूर्यूनेति । शशितनू कूर्यू-
 नवृतान्विते भंगाय भवतः द्यूनं वृतमावृतं यद्योस्ते द्यून-
 वृते ते च ते अन्विते च द्यूनवृतान्विते क्रमेण द्यूनवृता-
 न्विते ते तथा, लग्नस्य चंद्रस्य वा सप्तमं कूरून्वितं भवेत्,
 यद्वा-चंद्रो लग्नं वा कूरून्वितं भवेत्तदा लग्नभंगः स्यादि-
 त्यर्थः । अस्ते सप्तमे लग्नाच्चंद्राद्वा सितज्ञौ शुक्रो बुधो
 वा सोपि भंगाय । लग्ने विधुश्चंद्रो भंगाय । द्विषि षष्ठे
 सोमसिताधिपा भंगाय स्युः । सोमश्चंद्रः सितः शुक्रः
 अधिपाः स्वामिनः लग्नांशद्वेष्काणानाम् । अत्र षष्ठं ल-
 ग्नादेव न चंद्रात् सोमग्रहणात् । सितः शुक्रः सेंदुः सचंद्रः
 भंगाय शुक्रयुक्तश्चंद्र इति भावः । अंशपो नवांशाधीशो
 विनष्टोस्तंगतः भंगाय स्यात् ॥ ५ ॥

अंशाः षड्भिनवाद्रयस्तदधिपे लग्नांशयोर्द्वा-
 दशद्वित्रयष्टासु न लग्नमस्तलवपे तत्सप्तमा-
 भ्यां तथा ॥ गंडांतेषु च वैधृताबुभयतः संक्रां-
 तियामद्वये यामार्धव्यतिपातविष्टिकुलके
 मासेहि चोनाधिके ॥ ६ ॥

अथ नवांशशुद्ध्यादिकमाहं । अंशा लग्ननवांशाः
 षट्त्रिनवाद्रयः कन्यामिथुनधनुस्तुलाः शुभाः । तस्य

नवांशस्याधिपे स्वामिनि लग्ननवांशयोः लग्नान्नवांशाद्वा
द्वादशाद्विच्यष्टासु द्वादशद्वितीयतृतीयाष्टमेषु स्थिते सति
न लग्नं कार्यम् । अस्तलवपे अस्तांशाधिपे तत्सप्तमाभ्यां
लग्नादंशाच्च सप्तमाभ्यां सकाशात्तथा तद्द्वादशाद्विच्यष्टासु
स्थिते सति लग्नं न कार्यम् । एषु स्थानेषु तस्य दृष्टिर्ना-
स्तीत्यभिप्रायः । अथान्ये महादोषाः—गंडांतेष्विति । त्रि-
विधेषु गंडांतेषु शूलवैधृतवरीयसामित्युक्तेषु वैधृतौ सप्त-
विंशयोगे च संक्रांतेः सकाशादुभयतः पूर्वं पश्चाच्च याम-
द्वये षोडशघटीषु च यामार्धमर्धयामः शास्त्रांतरोक्तः ।
व्यतिपातः सप्तदशो योगः । विष्टिर्भद्रा सप्तमं कारणं,
कुलिकः द्विद्वयनामनव इत्यादिनोक्तः तस्मिन् अनाधिके
मासि क्षयमासेधिमासे चेति अनाधिकेहि दिनक्षये दिन-
वृद्धौ चेति न लग्नं कार्यमिति प्रत्येकं संबंधः ॥ ६ ॥

जन्मर्क्षाज्जन्मलग्नान्निधनविधनते अष्टमद्वा-
दशाभ्यां लग्ने तत्स्वामितत्स्थैरपि वपुषि ख-
गैस्तद्गृहांशैश्च ते स्तः ॥ अस्तेशारेर्नवांशे
व्यसनमसुभयं नाडिवेधे षडष्टक्षेत्रेशानाम-
सरूपे दनुजनरगणे वार्कजीर्वेदुशुद्धौ ॥ ७ ॥

अथाष्टमलग्नादिदोषानाह । जन्मर्क्षाज्जन्मलग्नाच्च
अष्टमद्वादशाभ्यां लग्ने स्थिताभ्यां क्रमेण निधनविधनते

स्तः । जन्मराशेर्जन्मलभ्राद्वाष्टमे राशौ लग्नगते सति निधनं, द्वादशे विधनं स्यादित्यर्थः । तत्स्वामितत्स्थैरष्टमद्वादशराश्योः स्वामिनौ तत्स्वामिनौ तयोरष्टमद्वादशराश्योः स्थितास्तत्स्थास्तैः स्वगैरपि वपुषि लग्ने स्थितैः क्रमेण निधनविधने स्तः । अष्टमस्थानाधीशेष्टमस्थे वा ग्रहैर्लग्नगते सति निधनं, द्वादशस्थानाधीशे द्वादशस्थे वा ग्रहे लग्नगते सति विधनता स्यादित्यर्थः । तद्गृहांशैः तेषां ग्रहाणां यानि गृहाणि तेषामंशा नवांशास्तैश्च वपुषि गतैः ते निधनविधने क्रमेण स्तः । अष्टमराशेरष्टमस्थग्रहस्य राशेर्वा नवांशे लग्नगते सति निधनं, द्वादशराशेर्द्वादशस्थग्रहस्य राशेर्वा नवांशे लग्नगते विधनता स्यादित्यर्थः । अस्तेशारेः अंशादस्तं सप्तमं तस्येशः स्वामी तस्यारिः शत्रुस्तस्य नवांशे लग्नगते सति व्यसनं स्यात् । अथ मेलकः । असुभयमिति । रुद्रार्यमे इत्यादिना नारीनरनक्षत्रयोर्नाडीवेधे सति असुभयं मरणं स्यात् । षडष्टक्षेत्रेशानां स्त्रीनरराश्योर्मिथः षडष्टकराश्यधिपानामसख्ये वेरे सति असुभयं स्यात् । त्रियुग्मीत्यादिना दनुजनरगणे राक्षसमनुष्यगणे च असुभयं स्यात् । अर्कजीवेन्दुशुद्धौ च गोचरमार्गेण दंपत्योः सूर्यगुरुचंद्राणां बलालाभे सति मरणं स्यादित्यर्थः ॥ ७ ॥

वेदा इभाब्धय इयं किल नार्मदी भा तद्व्यं-
गुलं हसति पुष्यति योजनेन ॥ याम्योत्तरे
पथि हता दशनागदिग्भिर्अन्त्या पुनर्दहनह-
चरखंडकानि ॥ ८ ॥

एवं लग्नांशशुद्धिं ज्ञात्वा तस्मात्कालज्ञानार्थं पलभा-
चरोदयादीनाह । वेदाश्चत्वार्यंगुलानि इभाब्धयोष्टच-
त्वारिंशद्व्यंगुलानि इयं किल सर्वत्र नर्मदातीरे पलभा
स्यात् । तस्माद्याभ्योत्तरे पथि एकयोजनेन व्यंगुलं त-
स्याः पलभाया हसति पुष्यति च, स्वदेशनर्मदयोर्याम्यो-
त्तरांतरे यावन्ति योजनानि तत्तुल्यव्यंगुलैः सा नार्मदी
पलभा ४।४८ याम्यदेशे रहिता उत्तरे सहिता स्वदे-
शफलभा भवेदित्यर्थः । सा त्रिधा दशनागदिग्भि-
र्हता अन्त्या पुनः अन्तिमा तु दहनहत् त्रिदहता चरखं-
डकानि स्युः ॥ ८ ॥

लंकोदया भुजगभानि नवांकदस्त्रा वह्निद्वि-
कृष्णगतयश्चरखंडकैः स्वैः ॥ हीना विलो-
मविहिताः सहिता विलोमैर्व्यस्ताः पुनः स्व-
विषयोदयजा विनाड्यः ॥ ९ ॥

अथोदयाः कृष्णगतयो वह्नयः शेषाः प्रसिद्धाः एते
त्रयो लङ्कोदयाः स्युः । तैस्त्रिभिः स्वैश्वरखण्डैः क्रमेण
हीनाः विलोमविहिता उत्क्रमस्थाः विलोमैश्वरखण्डकैः
क्रमेण सहिताः । एवं मेषादीनां षण्णां जाताः । ते पुन-
र्व्यस्ताः एवं द्वादश स्वदेशोदयजा विनाढ्यः ॥ ९ ॥

वेदात्यष्टिगुणाग्निधूर्जटिगजत्र्यत्यष्टिद्वि-
श्वभूमूर्छाभिर्धनुषो निहत्य विभजेत्लग्नेऽष्ट-
वारान्त्रिभिः ॥ मीनादिष्वधनं तुलादिषु
धनं लिप्तास्फुटो भास्करः (?) ॥ १० ॥

अथ संक्रांतेरर्कज्ञानमाह । अत्यष्टिः सप्तदश धूर्ज-
टयो रुद्राः मूर्छा एकविंशतिः अर्थाः पञ्च कामाङ्कुशाः
नखाः शेषा गुणा हराश्च प्रसिद्धाः । लग्नेष्टवारान् लग्न-
कालपर्यन्तं संक्रांतिमारभ्येष्टदिवसान् धनुषः धनुःसंक्रां-
तिमारभ्य वेदादिभिर्द्वादशगुणकैर्यथाप्राप्तैः क्रमेण निहं-
त्यातिथ्यादिभिर्द्वादशभिर्विभजेत् । फलं लिप्ताः मीना-
दिषु कन्यान्तासु गतेर्के अधनं, तुलादिकुम्भांते सधनं कृ-
त्वा स्फुटो भास्करः स्यात् । एतदुक्तं भवति—संक्रम-
वशादर्कराशीन् ज्ञात्वा संक्रममारभ्य इष्टदिनपर्यन्तं वेदा-
दिदिवसास्ते तदर्धोशाः स्युः । ते दिवसाः पृथक् धनुरा-

रभ्य यथाक्रमप्राप्तेन गुणकेन संगुण्य यथाप्राप्तहरेण
विभज्य कलादि यल्लब्धं तत्तास्मिन् रवौ मीनादिषु
सप्तसु गते ऋणं तुलादिपंचसु गते धनं कार्यं स इष्टदि-
ने स्फुटः सूर्यः स्यादिति ॥ १० ॥

रात्रौ भानुर्भार्धयुक्सायनांशस्तन्वर्काशाः
स्वोदयघ्नाः पृथक्त्वे ॥ त्रिंशद्भक्ता भुक्तभो-
ग्याः पलादिस्तादृक्कालो मध्यगस्वोदया-
दयः ॥ ११ ॥

अथ, कालज्ञानं, स्पष्टार्थम् ॥ ११ ॥

भोग्यं रवेः समयमिष्टघटीपलेभ्यस्त्य
क्त्वोदयैः सह फलानि तदुद्धृतानि ॥ त्रिंश-
द्भुणान्यगलितोदयभाजितानि भागाद्यजा-
दिगृहशेखरितं तनुः स्यात् ॥ १२ ॥

अथेष्टकालाल्लग्नज्ञानमाह-रवेर्भोग्यकालमुदयैः सह इष्ट-
घटीपलेभ्यस्त्यक्त्वा भोग्यं तदग्रोदयांश्च त्यक्त्वेत्यर्थः ।
तदुद्धृतानि तदुर्वरितानि यानि पलानि तानि त्रिंशद्भु-
णितानि अगलितोदयेन भाजितानि भागादि यल्लब्धं
तदजादिगृहशेखरितं तनुर्लग्नं स्यात् । शेखरो मुकुट-
शेखरो जातोस्मिंस्तच्छेखरितम् अजादिगृहैः शेखरि-

तमजादिगृहशेखरितम् मूर्धनि मेषादिराशिसहितमि-
त्यर्थः ॥ १२ ॥

नवांशमानं द्विशती कलानां सूर्योनलग्नस्य
शरैन्दुभागे ॥ वारादिहोरा विगता शरघ्ने षड्-
र्गचिन्ता तु विनायनांशैः ॥ १३ ॥

अथ षड्वर्गहोरादिकमाह । कलानां द्विशती नवांशमा-
नं स्यात् । दृष्टांशात्पूर्वांशा द्विशतगुणा लग्नकलाः स्युरि-
ति भावः । तस्मात् लग्नात् षड्वर्गचिन्ता अयनांशैर्विना
स्यात् । षड्वर्गचिन्तायामयनांशा न देया इत्यर्थः । षड्व-
र्गान्वक्ष्यति । अथ होरा । वारादीति । वारादेर्वारमार-
भ्य विगता होरा स्यात् । कस्मिन् सति सूर्योनलग्नस्य
शरैन्दुभागे शरघ्ने सति सूर्योनलग्नस्यांशानां पंचदशांशं
शेषं विरहितं पंचघ्नं कृत्वा तं वारमारभ्य वारक्रमेण
गणयित्वा गता होरा स्यात्तत्परस्य वर्तमाना स्यादि-
त्यर्थः ॥ १३ ॥

अवन्तिपूर्वापरयोजनानि स्वपादहीनानि
ऋणानृणे स्तः ॥ पलानि देशान्तरयोश्चरा-
र्धं त्रिंशद्युमानान्तरमर्धितः स्यात् ॥ १४ ॥

अथ होरायाः प्रकारान्तरार्थं देशान्तरचरे आह । अवन्तिरु-
ज्जयिनी सा मध्यरेखोपलक्षणा तस्याः सकाशात्पूर्वा-

परे पूर्वस्मिन् पश्चिमे वा स्वदेशपर्यंतं यानि योजनानि
तानि स्वपादहीनानि स्वचतुर्थांशो नितानि देशान्तरयोः
पलानि स्युः । तानि क्रमेण ऋणानृणे स्तः । पूर्वं ऋण-
संज्ञानि पश्चिमे धनसंज्ञानीत्यर्थः । अथ चरार्धमिति ।
त्रिंशद्युमानांतरमर्धितं चरार्धं स्यात् । अर्थात्तद्वटिकात्म-
कमतः षष्टिगुणं पलानि स्युरिति । अथ वारप्रवृत्तिमाह ।
चरार्धदेशान्तरयुग्वियोगौ कार्यौ याम्यगोले योग
उत्तरगोले वियोग इत्यर्थः । योगे जाते सति तत्तु-
ल्यपदैः रव्युदयात्पुरा पूर्वं, वियोगेः पश्चादनंतरं दिन-
कर्तुः दिनाधीशस्य प्रवृत्तिः स्यात् । वारप्रवृत्तिरिति
यावत् । इयं वारप्रवृत्तिः 'अकोदयादूर्ध्वमधश्च ताभिः'
इत्यादि यतो गोलवासनया संहितावचनैश्च कचिद्विरु-
ध्यते । अतोत्रेत्थं गतिश्चितनीया । ग्रंथकारस्तु अवन्त्याः
पश्चिमदेशे आसीत् अतस्तेन स्वदेशाभिप्रायेणेदमुक्तम् ।
तथाप्युत्तरगोले देशान्तरपलेभ्योल्पचरार्धे सति वियोगे
पश्चादन्यथात्वं भवति । तत्र वियोगोपि पूर्वमिति द्रष्टव्यम्
एवं व्यभिचारः परिहर्तव्यः ॥ १४ ॥

द्विघ्नेष्टनाडीशरत्त्र्यब्धितो वा स्युः काल-
होरा दिनप्रवेशात् ॥ प्राग्वच्छरणा गण-
येदानिद्यात्कूरापि लग्ने शुभवेदवग ॥ १५ ॥

अथ प्रकारान्तरेण कालहोरामाह । दिनपप्रवेशात् द्विघ्ने-
 घृणाडीशरलब्धितः कालहोराः स्युः । वारप्रवेशमारभ्य
 इष्टघटिका द्विघ्नाः शरभक्ताः लब्धं कालहोराः स्युरित्य-
 र्थः । ताः शरघ्नाः प्राग्वद्गणयेत् । तद्यथा-तत्प्रमाणं
 निरवयवं वारादितो गणयित्वा गता कालहोरा
 स्यात्तत्परस्य वर्तमाना इत्यर्थः । एवं प्रकारद्वयेनापि
 कूरा पापहोरापि अनिद्या अदुष्टा स्यात् । कस्मिन्स-
 ति लग्ने शुभवेदवर्गे सति शुभा वेदाश्चत्वारो वर्गा यस्मि-
 स्तत्तथा सौम्यवर्गाधिकत्वे सतीति भावः ॥ १५ ॥

राश्यंशाः शशिभूगुणेक्षणहतास्तिथ्यभ्रभू-
 दिक्छरैर्भक्ताभार्धट्टकाणनंददिनकृद्भागा
 गृहं यस्य यत् ॥ त्रिंशांशः शनिसौम्यजीव-
 रविजक्ष्माजन्मनां व्युत्क्रमादोजर्क्षेषु शरेषु
 सर्पमरुतः पंचेति षड्वर्गिका ॥ १६ ॥

अथ षड्वर्गानाह । राशेरंशाः राशिभुक्ताः भागाः ।
 राशीन्संत्यज्य अंशा ग्राह्या इत्यर्थः । ते चतुर्षु स्था-
 नेषु क्रमेण शशिभूगुणेक्षण १ । १ । १ । ३ । २ ।
 हतास्तिथ्यभ्रभूदिक्छरैः १५ । १० । १० । ५ । भक्ताः
 अभ्रभुवो दश । शेषाः प्रसिद्धाः । लब्धानि भार्धा-

दयो वर्गाः स्युः भार्ध होरा दृकाणो द्रेष्काणो नन्ददिनकृ-
 द्भागौ नवांशद्वादशांशौ एवं चत्वारो वर्गाः । यस्य ग्रहस्य
 यद्गृहं तत्तस्यैव अयमेको गृहाख्यः । अथ त्रिंशांशा इति ।
 समराशौ सितादीनां पंचादयस्त्रिंशांशाः स्युः । त्रिंशतः
 पूरणास्त्रिंशाः ते च ते अंशाश्च त्रिंशांशाः । तद्यथा-सम-
 राशौ आद्याः पंचभागाः शुक्रस्य ततः सप्त बुधस्येत्या-
 दि । ओजक्षेपेषु विषमराशिषु व्युत्क्रमात् भागानामधिप-
 तीनां च । तद्यथा-आद्याः पंच भौमस्य ततः पंच शनेरि-
 त्यादि । इतीयं षड्वर्गिका स्यात् । षण्णां वर्गाणां समा-
 हारः षड्वर्गी सैव षड्वर्गिका ॥ १६ ॥

मध्योदये सायनसूर्यभोग्यं सषड्भुक्तं च
 युतं द्युमानम् ॥ इति स्मृतेयं शिशुबोधनाय
 श्रीकेशवार्केण विलग्नशुद्धिः ॥ १७ ॥

इति विवाहवृंदावने लग्नशुद्धिः सप्तदशो-
 ध्यायः ॥ १७ ॥

अथ ग्रहगणितोक्तमपि द्युमानानयनं सुगमोक्त्या-
 सायनसूर्यस्य यत्प्राग्वद्भोग्यं सायनसूर्यस्य सषड्भुक्तं
 यच्च भुक्तं तत् मध्योदये तदंतर्वर्तिषु मध्योदयेषु युक्तं द्यु-
 मानं स्यात् । अथालंकारः । इतीयं विलग्नस्य विवाहल-

ग्रस्य शुद्धिः शिशुबोधनाय बालावबोधाय श्रीकेशवा-
केण स्मृता संक्षिप्य कथिता ॥ १७ ॥

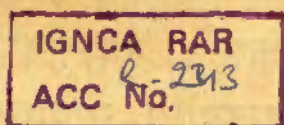
इति श्रीसकलागमाचार्यवर्यश्रीकेशवसांवत्सरा-
त्मजगणेशविरचिता केशवाकोदितलग्न-
शुद्धेर्विवृतिः समाप्ता ॥

॥ समाप्तमिदं विवाहवृन्दावनम् ॥

पुस्तक मिलनेका ठिकाना-
खेमराज श्रीकृष्णदास,

“श्रीवेङ्कटेश्वर” स्टीम-प्रेस.

मुंबई.



००००० (होरा मिलर एंड कम्पनी कलकत्ता) ०००००

गुलाब फूल टीकट



जोन स्टेन एंड सन्स स्लांस गो

वहोया माल